अध्ययन मण्डल

अध्यक्ष
कुलपति
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी
1.प्रो0 अरविंद के जोशी, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी (उत्तर प्रदेश)
2.प्रो0 बी.मोहन कुमार, जी.बी.पंत कृषि व प्रोद्योगिकी विश्वविद्यालय, पंतनगर, उत्तराखण्ड

संयोजक
निदेशक समाज विज्ञान विद्याशाखा

पाठ्यक्रम समन्वयक

डॉ0 दीपक पालीवाल, सहायक प्राध्यापक समाजशास्त्र, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

इकाई लेखन	इकाई संख्या
Dr. Hari S Bisht (Regional Health & Family Training Center, Haldwani	**1,2,3,4,5**
Ms. Mitushi Gupta Centre for the study of Social System Jawahalal Nehru University, New Delhi	**6,7,8,9**
Translation of Units: Punit Chaturvedi	**6,7,8,9**

संपादन

डॉ0 दीपक पालीवाल, सहायक प्राध्यापक समाजशास्त्र, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

कापीराइट @ उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

प्रकाशन वर्ष- 2020

प्रकाशन- उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी- 263139

सर्वाधिक सुरक्षित। इस प्रकाशन का कोई भी अंश उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय,
हल्द्वानी MASO-603

स्वास्थ्य और चिकित्सा का समाजशास्त्र – I

Sociology of Health and Medicine -I

खण्ड 1	**Social Sciences, Health & Medicine**	
Unit 1:	**Health: Concept, Meaning, Dimensions and indicators** स्वास्थ्य : अवधारणा, अभिप्राय, आयाम और संकेतक	पृष्ठ–1–23
Unit 2:	**Forms, Concepts of Health- Biomedical, Ecological Psychological and Holistic Definition of Health.** स्वास्थ्य के प्रकार और प्रतिमान: जैव चिकित्सकीय,पारिस्थितिकीय और साकल्य तथा स्वास्थ्य के सामाजिक निर्धारक	पृष्ठ–24–39
Unit3:	**Factors affecting Health: Social, Economic and Cultural** स्वास्थ्य को प्रभावित करने वाले कारक : सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक	पृष्ठ–40–58
Unit 4:	**Social epidemiology and Health Status** सामाजिक मरक-विज्ञान(संक्रामक रोग–विज्ञान)और स्वास्थ्य स्तर	पृष्ठ–59–76
Unit 5:	**Geriatric Health** जरायु स्वास्थ्य	पृष्ठ–77–90
खण्ड 2	**Sociological theories of Health and Medicine**	
Unit 6:	**Functionalist Theories: Parsons Sick-role** पार्सन का रोगी भूमिका सिद्धांत	पृष्ठ–91–100
Unit 7:	**Marxist Creativeness** मार्क्सवादी स्वास्थ्य दृष्टिकोण	पृष्ठ–101–110
Unit 8:	**Feminist Approach** स्त्री अधिकारवादी या नारीवादी दृष्टिकोण	पृष्ठ–111–121
Unit 9:	**Approaches to Plural Medical Knowledge and Practice systems** बहुल चिकित्सा ज्ञान एवं चिकित्सा कर्म व्यवस्था	पृष्ठ–122–134

इकाई 1: स्वास्थ्य : अवधारणा, अभिप्राय, आयाम और संकेतक
(Health: Concept, Meaning, Dimensions and Indicators)

1.1 उद्देश्य

1.2 प्रस्तावना

1.3 स्वास्थ्य की अवधारणा

1.4 स्वास्थ्य का अभिप्राय एवं परिभाषा

1.5 स्वास्थ्य के विभिन्न आयाम

- 1.5.1 शारीरिक आयाम
- 1.5.2 मानसिक आयाम
- 1.5.3 सामाजिक आयाम
- 1.5.4 आध्यात्मिक आयाम
- 1.5.5 भावात्मक आयाम
- 1.5.6 व्यावसायिक आयाम
- 1.5.7 अन्य आयाम

1.6 स्वास्थ्य के संकेतक

- (I) मृत्यु दर संकेतक
- (II) रुग्णता संकेतक
- (III) विकलांगता दर
- (IV) पौषणिक स्तर संकेतक
- (V) स्वास्थ्य देखभाल सेवा के संकेतक
- (VI) स्वास्थ्य सेवा की उपयोग दर
- (VII) सामाजिक और मानिसक स्वास्थ्य के संकेतक
- (VIII)पर्यावरण सम्बन्धी संकेतक
- (XI) सामाजार्थिक संकेतक
- (X) जीवन–गुणवत्ता से संबंधित संकेतक
- (XI) स्वास्थ्य–नीति संबंधी संकेतक

1.7 सारांश

1.8 शब्दावली

1.9 अभ्यास प्रश्न

1.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
1.12 निबंधात्मक प्रश्न

1.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप–

1. स्वास्थ्य की अवधारणा से परिचित हो सकेंगे।
2. स्वास्थ्य का अभिप्राय तथा परिभाषा को जान सकेंगे।
3. स्वास्थ्य के विभिन्न आयामों से परिचित हो सकेंगे।
4. स्वास्थ्य के संकेतकों को पहचान सकेंगे।

1.2 प्रस्तावना

सितम्बर 1978 में, भूतपूर्व सोवियत रूस के ''अल्मा–आटा'' शहर में आयोजित विश्व स्वास्थ्य सम्मेलन के बाद यह निर्णय लिया गया कि ''दुनिया के सभी देश और विश्व स्वास्थ्य संगठन का सामाजिक लक्ष्य, वर्ष 2000 तक विश्व के सभी लोगों को इतना स्वस्थ बनाना होगा कि वे सामाजिक और आर्थिक तौर पर एक उत्पादक जीवन जी सकें।'' संयुक्त राष्ट्र संघ ने 1945 में ''सभी के लिए स्वास्थ्य'' लक्ष्य को अंगीकार करके स्वास्थ्य को सामाजिक–आर्थिक विकास का एक अभिन्न अंग बना दिया। संयुक्त राष्ट्र की इस पहल के बाद, एक नई सामाजिक व्यवस्था कायम करने की दिशा में स्वास्थ्य सामाजार्थिक विकास का एक प्रमुख साधन बन गया है।

1.3 स्वास्थ्य की अवधारणा

सभी समुदायों की स्वास्थ्य के बारे में उनकी अपनी एक अवधारणा रही है और इसे उनकी संस्कृतियों के एक अंग के रूप में मान्यता दी गयी है। आज के औषधि विज्ञान पर बहुधा यह आरोप लगाया जाता है कि इसमें बीमारियों के अध्ययन पर ज्यादा ध्यान दिया गया है और स्वास्थ्य के अध्ययन की अनदेखी की गई है। उदाहरण के लिए, स्वास्थ्य संकेतक अभी तक नहीं पहचाने गए हैं, स्वास्थ्य की परिभाषाएं अभी भी समझ से बाहर हैं और स्वास्थ्य को नापने का वर्तमान में कोई पैमाना नहीं है। इसलिए लोगों में स्वास्थ्य के बारे में अज्ञानता व्याप्त है। इसलिए स्वास्थ्य से संबंधित ''रोग विज्ञान'' के अध्ययन और तत्पश्चात् स्वास्थ्य से संबंधित जानकारियों के प्रचार–प्रसार की काफी संभावनाएं मौजूद हैं। व्यक्तिगत स्तर पर, मनुष्य ने अपने जीवन में जितना महत्व सत्ता या शक्ति, प्रतिष्ठा, धन–दौलत, सुरक्षा और ज्ञान जैसी जरुरतों को दिया है, उतना महत्व स्वास्थ्य को नहीं दिया है। जब तक लोग बीमार नहीं होते, वे अपने स्वास्थ्य को लेकर निश्चिंत रहते हैं और स्वास्थ्य की अहमियत और महत्व को नहीं समझते। प्रथम विश्व युद्ध के बाद, राष्ट्र संघ के गठन का मसौदा तैयार किया गया था, इसमें स्वास्थ्य के मुद्दे को पूरी तरह ''नजरअंदाज'' किया गया था। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद, संयुक्त राष्ट्र के चार्टर का मसौदा तैयार करते समय अन्तिम समय में इसे फिर ''नजरअन्दाज'' कर दिया गया। 1945 में सानफ्रांसिस्को में आयोजित सम्मेलन में तदर्थ आधार यानि अस्थायी तौर पर इसे शामिल करना पड़ा था। केवल पिछले कुछ दशकों में ही इस बारे में जागरुकता आई है कि स्वास्थ्य लोगों के मूलभूत अधिकारों में शामिल होना चाहिए तथा जीवन को बेहतर

बनाने की दिशा में, मनुष्य की बुनियादी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए सभी लोगों का स्वस्थ रहना अत्यन्त जरुरी है।

1.4 स्वास्थ्य का अर्थ एवं परिभाषा

स्वास्थ्य के बारे में अभी भी प्रचलित परिभाषाओं में, ''रुग्णहीनता'' यानि बीमारी न होना को सम्भवतः सबसे पुरानी परिभाषा कहा जा सकता है। कुछेक संस्कृतियों में, स्वास्थ्य और समरसता यानि सामन्जस्य को एक समान माना गया है। स्वयं के साथ, समुदाय के साथ, देवों के साथ और ब्रह्माण्ड के साथ संघर्षहीनता की स्थिति अर्थात् *सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयः* को समरसता कहा गया है। प्राचीन भारतीय और ग्रीसवासी इसी अवधारण को मानते थे और उन्होंने शारीरिक संतुलन में गड़बड़ी को रोग या बीमारी का कारण माना है। इसी संतुलन को ये लोग समरसता कहते थे।

जैसा कि हमने बताया है, स्वास्थ्य को परिभाषित करना अत्यन्त आवश्यक है। अधिकांश लोग इसकी कोई एक सुनिश्चित परिभाषा नहीं दे सकते। इसलिए, स्वास्थ्य के बारे में, समय–समय पर अनेक परिभाषाएं सामने आई हैं।

1. ऑक्सफोर्ड शब्दकोश के अनुसार– ''तन और मन की उस मजबूत स्थिति को स्वास्थ्य कहा गया है, जिसमें व्यक्ति अपने कार्यों को विधिवत और सक्षमता से सम्पन्न करे।''

2. वेबस्टर के अनुसार– स्वास्थ्य वह स्थिति है, जहां तन, मन और आत्मा विशेषकर शारीरिक रोगों और कष्ट से मुक्त है।

3. परकिंस कहते हैं– ''स्वास्थ्य कायिक स्वरूप और कार्यों के बीच एक ऐसा संतुलन है जो इसे बाधित करने वाली शक्तियों के साथ सफल परिवर्तनशील समायोजन से उत्पन्न होता है। यह कायिक तत्वों और इनको बाधित करने वाले तत्वों के बीच निष्क्रिय परस्पर–संघर्ष नहीं है बल्कि समायोजन की दिशा में कायिक तत्वों का सक्रिय प्रत्युत्तर है।

4. ''विश्व स्वास्थ्य संगठन की तकनीकी रिपोर्ट सं. 137 (1957) में इसे कुछ इस प्रकार से परिभाषित किया गया है ''स्वास्थ्य मनुष्य की शरीर संरचना की वह स्थिति या विशेषता है जो किसी नियत आनुवांशिक और पर्यावरणीय स्थित में इस संरचना के पर्याप्त सुचारु कार्यकरण को दर्शाती है।''

5. आर. दुबोस (1950) द्वारा अपनी पुस्तक **''मैन, मेडिसिन एण्ड एनवायरनमेंट''** में कथनानुसार ''स्वास्थ्य एक ऐसी जीवनचर्या है जो एक अशक्त व्यक्ति को इस अशक्त विश्व में जीने के लिए कम कष्टप्रद और उर्पाजक जीवन हासिल करने में सक्षम बनाता है।''

विश्व स्वास्थ्य संगठन की परिभाषाः विश्व स्वास्थ्य संगठन ने 1948 में अपने संविधान के आमुख में उल्लेख किया है -

'' स्वास्थ्य केवल बीमारियां या विकलांगता न हाने तक ही सीमित नहीं है बल्कि पूरी तरह से शारीरिक, मानसिक और सामाजिक खुशहाली प्राप्त करने की स्थिति ही स्वास्थ्य है।'' इस परिभाषा में सामाजार्थिक रूप से उत्पादक जीवन जीने को शामिल किया गया है।

1.5 स्वास्थ्य के विभिन्न आयाम

यदि हम स्वास्थ्य के बारे में विश्व स्वास्थ्य संगठन और अन्य संस्थानों तथा विशेषज्ञों की परिभाषाओं पर नजर डालें तो स्वास्थ्य के विभिन्न आयाम उभर कर आयेंगे। हम यहां कुछ प्रमुख आयामों जैसे कि शारीरिक आयाम, मानसिक आयाम, सामाजिक आयाम, आध्यात्मिक आयाम, भावनात्मक आयाम या संज्ञानात्मक आयाम तथा पेशागत या व्यावसायिक आयाम पर चर्चा करेंगे।

1.5.1शारीरिक आयाम

शारीरिक आयाम को सबसे ज्यादा आसानी से समझा जा सकता है। शारीरिक स्वास्थ्य से तात्पर्य यह है कि व्यक्ति–विशेष का शरीर कितनी सहजता से अपने सारे कार्य निष्पादित कर रहा है? इसमें संकल्पना की गई है कि जैविक तौर पर स्वास्थ्य एक ऐसी स्थिति है जिसमें शरीर का प्रत्येक अंग और कोश व्यक्ति–विशेष के शरीर के साथ संयोजन अपनी सर्वोच्च क्षमता तथा सम्पूर्ण संतुलन और तालमेल या सामंजस्य के साथ कार्य करता है। सुन्दर रूप–रंग, स्वच्छ एवं चमकदार त्वचा, गहन निद्रा और स्वच्छ श्वसन, चमकदार आंखें और अच्छी दृष्टि, चमकीले केश और शालीन वस्त्रों से ढका शरीर, अच्छी भूख, नियमित एवं सहज तौर से मल–मूत्र का त्याग तथा पूरे शरीर की सहज एवं समन्वयपूर्ण क्रिया, ये सभी अच्छे स्वास्थ्य की निशानी हैं। इसके अलावा, शरीर के सभी अंग सामान्य आकार के हों और सुचारू रूप से अपने कार्य करें, सभी विशिष्ट इन्द्रियां सही–सलामत हों, व्यक्ति यानि पुरुष और महिला की उम्र के अनुसार नाड़ी की गति, रक्तचाप और व्यायाम–सहनशक्ति ये सभी सामान्य सीमा में हों, शरीर की लम्बाई के अनुसार वजन सामान्य हो। संज्ञान में आये सभी रोगों से मुक्त तथा उपरोक्त आदर्श स्वास्थ्य वाले बहुत से व्यक्तियों के परीक्षण के बाद शरीर के अंगों और इनके कार्य–कलापों की आदर्श सीमा तय की गई है। व्यक्ति पूर्णतया स्वस्थ्य है, तभी कहा जाएगा जब उसका स्वास्थ्य इन तय मानकों पर खरा उतरे।

1.5.2 मानसिक आयाम

केवल मानसिक बीमारी का न होना ही मानसिक स्वास्थ्य नहीं है बल्कि जीवन के खट्टे–मीठे अनुभवों का सहजता और लचीलेपन से सामना करने की योग्यता ही मानसिक स्वास्थ्य है। मानसिक स्वास्थ्य को कुछ इस रूप में परिभाषित किया गया है ''व्यक्ति और उसके आसपास की दुनियां के बीच संतुलन की स्थिति, स्वयं और दूसरों के बीच संतुलन की स्थिति, स्वयं और दूसरों के बीच सामन्जस्य की स्थिति, स्वयं की और अन्य लोगों तथा साथ ही पर्यावरण की वास्तविकताओं के बीच सहअस्तित्व।'' कुछ दशक पहले तक, मन और शरीर का अलग–अलग अस्तित्व माना जाता था। लेकिन शोधकर्ताओं ने अब पता लगाया है कि मनोवैज्ञानिक कारक न केवल मानसिक रोगों बल्कि सभी प्रकार के रोगों को बढ़ावा दे सकते हैं। इनमें लगातार उच्च तनाव (हाइपर टेंशन) श्वासनली का अस्थमा (ब्रोंकियल अस्थमा) तथा पाचनतंत्र में नासूर (पेप्टिक अल्सर) शामिल है। कुछ बड़ी बीमारियों जैसे कि अवसाद (डिप्रेशन) और मनोविखण्डता (सिजोफ्रेनिया) में जैविक तत्वों का भी हाथ होता है। कहने का मतलब यह है कि मानसिक संतुलन में गड़बड़ी का मतलब केवल व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध में व्यवधान ही नहीं है। इसमें व्यवहारिक, मनोवैज्ञानिक और जैविक दुष्क्रिया भी शामिल है। हालांकि, मानसिक स्वस्थ्य व्यक्तिगत स्वास्थ्य का एक अनिवार्य घटक है लेकिन मानसिक स्वास्थ्य से जुड़े वैज्ञानिक संस्थान अभी भी इस बारे में पूरी तरह स्पष्ट नहीं हैं। इसलिए हमारे पास मानसिक स्वास्थ्य की स्थिति को मापने के वैसे सटीक उपकरण नहीं हैं जैसे कि शारीरिक स्वास्थ्य को मापने के।

1.5.3 सामाजिक आयाम

सामाजिक स्वास्थ्य या समरसता से तात्पर्य यह है कि लोगों के अन्तर्गत और समाज के अन्य सदस्यों तथा व्यक्तियों तथा विश्व जिसमें वे निवास करते हैं के बीच एकजुटता या सामजस्य हो। इसे व्यक्ति–विशेष के अन्तर–व्यक्तित्वों की मात्रा और गुणवत्ता और समुदाय के साथ सहभागिता की सीमा के तौर पर परिभाषित किया गया है। स्वास्थ्य के सामाजिक आयाम में मनुष्य के सामाजिक कौशल का स्तर, सामाजिक कार्यकरण और उस बृहद समाज के एक सदस्य के रूप में स्वयं को समझने की योग्यता शामिल है। आम तौर पर, सामाजिक स्वास्थ्य की जब हम बात करते हैं तो यह मानते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति परिवार का और अपेक्षाकृत एक बड़े समुदाय का सदस्य है और उसके समाज के अपने नेटवर्क के संदर्भ में एक ''सम्पूर्ण व्यक्ति'' की सामाजिक और आर्थिक हालत तथा खुशहाली पर ध्यान केन्द्रित करते हैं।

1.5.4 आध्यात्मिक आयाम

सकल स्वास्थ्य की विचारधारा पर विश्वास करने वालों का मत है कि ऐसा समय आएगा, जब स्वास्थ्य और बीमारियों में आध्यात्मिक आयाम की भूमिका पर गम्भीरता से विचार करना ही पड़ेगा। इस संदर्भ में आध्यत्मिक स्वास्थ्य व्यक्ति विशेष के उस घटक का हवाला देता है जो किसी व्यक्ति के जीवन का अर्थ

और प्रयोजन समझने और वहां तक पहुंचने का प्रयास करता है। यह एक ऐसा अतिसूक्ष्म अथवा स्पर्शगम्य ''निराकार अस्तित्व'' है जो काया विज्ञान और मनोविज्ञान से भी परे और श्रेष्ठ है। यह अपेक्षाकृत एक नई संकल्पना है और ऐसा प्रतीत होता है कि इसकी कोई ठोस परिभाषा नहीं हो सकी है। इसमें सत्यनिष्ठा, सिद्धान्त और नीतिशास्त्र, जीवन का मुख्य प्रयोजन, किसी परमसत्ता के प्रति कटिबद्धता और ऐसी अवधारणाओं, जिन्हें अत्याधुनिक व्याख्याओं की कसौटी पर नहीं कसा जा सकता, पर विश्वास शामिल है।

1.4.5 भावात्मक आयाम

प्राचीन काल से ही मानसिक और भावात्मक आयामों को एक ही तत्व के रूप में या परस्पर समबद्ध तत्वों के रूप में माना गया है। लेकिन इस क्षेत्र में कई शोध–कार्य होने के बाद इन दोनों में एक स्पष्ट अन्तर नजर आने लगा है। मानसिक स्वास्थ्य को ''समझ'' अथवा ''संज्ञान'' के रूप में देखा जा सकता है। जबकि भावनात्मक स्वास्थ्य ''अनुभूति'' से संबंधित है। मनोविज्ञान के विशेषज्ञों को इन दो आयामों को अलग–अलग समझाने में अपेक्षाकृत ज्यादा सफलता मिली है। इस नई व्याख्या के चलते, हमें मानसिक और भावनात्मक पहलुओं को मानव स्वास्थ्य के दो अलग–अलग आयामों के तौर पर देखना होगा।

1.5.6 व्यावसायिक आयाम

जीवन का व्यावसायिक पहलू अपेक्षाकृत एक नया आयाम है। जब कार्य पूरी तरह से मानव के लक्ष्य, उसकी क्षमता और सीमाओं के अनुकूल हो तो यह मानव अस्तित्व का एक हिस्सा बन जाता है। कार्य बहुधा शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य दोनों के संवर्धन में एक बड़ी भूमिका निभाता है। शारीरिक श्रम आमतौर पर शारीरिक क्षमता में सुधार से जुड़ा होता है। जबकि लक्ष्य प्राप्ति और कार्यकरण में अपनी क्षमता का अहसास होने से संतुष्टि और आत्मविश्वास बढ़ता है। इस आयाम का अनुभव तब होता है, जब उस व्यक्ति की नौकरी चली जाए या उसे पता लगे कि अब सेवानिवृत्ति होनी ही है। कई लोगों के लिए, व्यावसायिक आयाम केवल आय का स्रोत हो सकता है। लेकिन अन्य लोगों के लिए, यह आयाम अन्य आयामों के प्रयासों की पराकाष्ठा होता है क्योंकि व्यक्ति–विशेष जिसे जीवन की ''सफलता'' मानता है उसे पाने के लिए ये अन्य सभी आयाम मिल कर कार्य करते हैं।

1.5.7 अन्य आयाम

स्वास्थ्य के अन्य आयाम भी हैं जैसेकि कि सांस्कृतिक आयाम, सामाजार्थिक आयाम, शैक्षिक आयाम, पर्यावरणीय आयाम, दार्शनिक आयाम, पोषक आयाम, रोकथाम संबंधी आयाम, उपचारात्मक आयाम। अतः कहा जा सकता है कि स्वास्थ्य के अनेक गैर–चिकित्सकीय आयाम भी हैं। ये आयाम अनेक प्रकार के कारकों के प्रतीक हैं। स्वास्थ्य के अलावा, अन्य क्षेत्रों को भी इन पर ध्यान देकर अपना योगदान देना चाहिए ताकि सभी लोग स्वास्थ्य का एक ऐसा स्तर प्राप्त कर सकें जिससे वे सामाजिक और आर्थिक रूप से उत्पादक जीवन जी सकें।

1.6 स्वास्थ्य के संकेतक

किसी समुदाय विशेष के स्वास्थ्य को नापने के लिए ही नहीं बल्कि किसी देश–विशेष के स्वास्थ्य स्तर की किसी अन्य देश के स्वास्थ्य से तुलना करने के लिए भी संकेतक जरुरी हैं। जन साधारण को उपलब्ध स्वास्थ्य सेवाओं की निगरानी और आकलन तथा स्वास्थ्य संबंधी कार्यकलापों और कार्यक्रमों के लिए संसाधनों के विवेकपूर्ण आबंटन हेतु भी स्वास्थ्य देखभाल संबंधी जरूरतों का अनुमान लगाना होता है। इस कार्य के लिए स्वास्थ्य संबंधी संकेतक आवश्यक हैं। संकेतकों से यह मापने में मदद मिलती है कि किसी कार्यक्रम के उद्देश्य और लक्ष्य किस सीमा तक हासिल कर लिए गए हैं।

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है कि संकेतक किसी परिस्थिति का केवल संकेत देते हैं या उसका आभास दिलाते हैं। स्वास्थ्य संबंधी कार्यक्रमों के मूल्यांकन के बारे में विश्व स्वास्थ्य संगठन के दिशा–निर्देशों में इन्हें उन ''वेरिएबल्स'' के रूप में परिभाषित किया गया है जो बदलावों को मापने में सहयोग देते हैं। जब बदलावों को प्रत्यक्ष तौर पर न मापा जा सकता हो तो बहुधा ऐसी स्थिति में, बहुधा स्वास्थ्य के विभिन्न स्तरों, उदाहरण के लिए स्वास्थ्य तथा पोषक स्तर, को अलग–अलग मापने के लिए इन संकेतकों का उपयोग किया जाता है। यदि एक तय समय में क्रमबद्ध तरीके से मापा जाए तो ये संकेतक परिवर्तन की दिशा और बदलाव कितनी तेजी से हो रहा है, इसका संकेत दे सकते हैं और अलग–अलग समुदायों तथा क्षेत्र के लोगों के बीच उस तय समय में हुए बदलाव या परिवर्तन की तुलना करने में सहायक होते हैं। बहुधा लोग, यह नहीं समझ पाते कि स्वास्थ्य संकेतक और सूचकांक में अन्तर क्या है और दोनों को एक ही मान लेते हैं। सूचकांक (संकेतक का बहुवचन है)। बेहतर होगा कि, स्वास्थ्य के संबंध में रूझान दर्शाने के लिए ''सूचकांक'' के बजाय ''संकेतक'' शब्द का उपयोग किया जाए। स्वास्थ्य सूचकांक, स्वास्थ्य संबंधी विभिन्न संकेतकों का समिश्रण है।

स्वास्थ्य संकेतकों की विशेषताएं : संकेतकों को विज्ञान–सम्मत माना गया है बशर्ते कि ये;

(क) विधि मान्य हों यानि ये उसी का आकलन करें, जिसके लिए बनाए गए हैं।

(ख) भरोसेमंद और वस्तुपरक हों यानि यदि अलग–अलग व्यक्ति भी उन्हीं परिस्थितियों में इनके द्वारा आकलन करें तो परिणाम एक जैसा ही निकले।

(ग) संवेदी हों यानि यदि संबंधित परिस्थिति में तनकि भी बदलाव आए तो इनमें भी उसी स्तर का बदलाव आए, और

(घ) विशिष्ट हों, यानि केवल संबंधित परिस्थिति में बदलाव आने पर ही बदलाव दर्शाएं।

लेकिन, सही मायनों में ऐसे संकेतक बहुत कम हैं, जो इन सभी मानकों पर खरा उतरते हों। स्वास्थ्य को मापना इतना आसान नहीं है। ऐसी कोई भी परिभाषा (विश्व स्वास्थ्य संगठन की परिभाषा सहित) नहीं है, जिसमें स्वास्थ्य को मापने के मापक दिए गए हों। क्योंकि, जिस प्रकार हम खुशी या प्रसन्नता को सटीक पैमाने पर नहीं माप सकते उसी तरह स्वास्थ्य को भी नहीं मापा जा सकता। व्यक्ति–विशेष स्वस्थ है या नहीं यह तो उस व्यक्ति के अपने सोचने पर निर्भर करता है। समस्या स्वास्थ्य को मापने की है और अभी तक इस समस्या का समाधान नहीं तलाशा जा सका है। इसलिए, स्वास्थ्य के मापन को बीमारी या अस्वस्थता, खराब स्वास्थ्य के दुष्परिणाम (अर्थात् रुग्णता, विकलांगता) आर्थिक और घरेलू कारण जो बीमारी बढ़ाते हैं जैसे स्वास्थ्य के विपरीत अर्थ वाले शब्द वाक्यों के जरिए दर्शाने का प्रयास किया गया है। स्वास्थ्य एक बहु–आयामी मुद्दा है और प्रत्येक आयाम को बहुत से कारक प्रभावित करते हैं, इनमें से अनेक ऐसे हैं, जिन्हें हम जानते हैं और अनेक ऐसे हैं, जिनके बारे में हमें कोई जानकारी नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है कि स्वास्थ्य को मापने के लिए बहु–आयामी तरीके अपनाने होंगे। अतः स्वास्थ्य का आकलन स्वास्थ्य विशेषज्ञों के लिए भी एक जटिल विषय है। हम स्वास्थ्य को केवल किसी एक संकेतक के आधार पर नहीं समझ सकते। हमें अनेक संकेतकों के आधार पर एक विवरण (प्रोफाइल) बनाकर इसे समझना होगा जैसे कि रुग्णता संकेतक, मृत्यु दर संकेतक, विकलांगता संकेतक, पोषक आहार से जुड़े संकेतक, स्वास्थ्य सेवा प्रदायगी संबंधी संकेतक, स्वास्थ्य सेवा के उपयोग संबंधी संकेतक, सामाजिक और मानसिक स्वास्थ्य संकेतक, पर्यावरण संबंधी संकेतक, सामाजार्थिक संकेतक, स्वास्थ्य नीति संबंधी संकेतक, जीवन गुणवत्ता संबंधी संकेतक, अन्य संकेतक।

1. मृत्यु दर संकेतक

(क) अशोधित मृत्यु दर : इसे लोगों के तुलनात्मक स्वास्थ्य का एक सामान्य संकेतक माना जाता है। इसे किसी समुदाय–विशेष में प्रति वर्ष प्रति 1000 व्यक्तियों में मौतों की संख्या के रूप में व्यक्त किया जाता है। यानि उस समुदाय के 1000 लोगों में से कितने लोगों की प्रतिवर्ष मृत्यु हो जाती है। यह संकेतक बताता है कि किस दर से लोगों की मृत्यु हो रही है। स्पष्ट कहा जाए तो किसी समुदाय विशेष में होने वाली मौतों की संख्या के आधार पर उस समुदाय की स्वस्थता का आकलन नहीं किया जाना चाहिए। लेकिन, अनेक देश ऐसे भी हैं, जहां उनकी आबादी के स्वास्थ्य का आकलन करने के लिए यही एक संकेतक उपलब्ध है।

जब हम अन्तर्राष्ट्रीय तुलना करते हैं तो यह संकेतक उतना उपयोगी साबित नहीं होता क्योंकि यह उस आबादी की आयु, पुरुष–महिला संरचना से प्रभावित होता है। हालांकि, यह स्वस्थता को नापने का एक सटीक पैमाना नहीं है, लेकिन मृत्यु दर में गिरावट आबादी–विशेष के समग्र स्वास्थ्य के आकलन का एक अच्छा साधन जरुर नजर आता है। आबादी–विशेष में मृत्यु दर में कमी लाना, स्वास्थ्य देखभाल और चिकित्सा का एक प्रमुख लक्ष्य है और ऐसा करने में सफल या असफल रहना, उस राष्ट्र की अपने लोगों के स्वास्थ्य को बेहतर बनाने की प्रतिबद्धता को आंकने का एक पैमाना अवश्य है।

(ख) उत्तरजीविता : यदि आयु–विशिष्ट मौजूदा मृत्यु दर बनी रहे तो किसी समुदाय विशेष में जिवित पैदा होने वाले बच्चे औसतन कितने वर्ष जीवित रहेंगे, इसे जन्म के समय उत्तरजीविता कहते हैं। जहां नवजात शिशु मृत्यु दर ऊंची है, वहां जन्म के समय उत्तरजीविता पर बहुत ज्यादा प्रभाव पड़ता है, यानि वहां दीर्घायुता पर नवजात शिशुओं की मृत्यु दर के प्रभाव को शामिल नहीं किया जाता और 5 वर्ष की आयु में उत्तरजीविता पर बाल मृत्यु दर के प्रभाव को शामिल नहीं किया जाता। ज्यादातर जन्म के समय उत्तरजीविता का उपयोग किया जाता है। बालक–बालिका दोनों के लिए उत्तरजीविता का अनुमान अलग–अलग लगाया जाता है। उत्तरजीविता में वृद्धि से निष्कर्ष निकाला जाता है कि स्वास्थ्य स्तर में सुधार हो रहा है।

आमतौर पर उत्तरजीविता सामाजार्थिक विकास का एक अच्छा संकेतक है। दीर्घायु का संकेतक होने के नाते इसे सकारात्मक स्वास्थ्य संकेतक के रूप में माना जा सकता है। इसे वैश्विक स्वास्थ्य संकेतक के रूप में अपनाया गया है।

(ग) आयु–विशिष्ट मृत्यु दरः किसी भी समुदाय विशेष के आयु के आधार पर वर्गीकृत समूहों में किसी भी विशिष्ट आयु समूह के लिए मृत्यु–दर व्यक्त की जा सकती है। आयु–विशिष्ट मृत्यु दर को इस प्रकार परिभाषित किया गया है– किसी विशिष्ट अवधि के दौरान किसी विशिष्ट क्षेत्र में किसी विशिष्ट आयु समूह (उदाहरण के लिए 20–24 वर्ष) की कुल अनुमानित आबादी में उसी अवधि के दौरान और उसी क्षेत्र में उसी आयु समूह (20–24 वर्ष) के लिए प्रति 1000 व्यक्ति पर मृत्यु दर।

(घ) नवजात शिशु मृत्यु दरः किसी नियत वर्ष में जीवित जन्म लेने वाले शिशुओं की संख्या और उसी वर्ष में 1 वर्ष से कम आयु के शिशुओं के मरने की संख्या के अनुपात को नवजात शिशु मृत्यु दर कहा जाता है। आमतौर पर इसे प्रति 1000 जीवित जन्म की दर के रूप में व्यक्त किया जाता है। न केवल शिशुओं बल्कि सम्पूर्ण आबादी के स्वास्थ्य स्तर तथा वे सामाजार्थिक परिस्थितियों, जिनमें वे रह रहे हैं, के संबंध में यह वैश्विक स्तर पर सर्वाधिक मान्य संकेतकों में से एक है। इसके अलावा शिशु मृत्यु दर स्वास्थ्य देखभाल तथा विशेष रूप से प्रसवोपरान्त देखभाल सुविधाओं की उपलब्धता, उपयोग और कारगरता के मामले में एक संवेदी संकेतक है।

(ङ) बाल मृत्यु दर : समग्र स्वास्थ्य के स्तर से जुड़ा एक और संकेतक है, जिसे प्रारम्भिक बाल्यावस्था (1–4 वर्ष) मृत्यु दर नाम दिया गया है। इसे संबंधित वर्ष की मध्यावधि में 1–4 वर्ष के आयु समूह में प्रति 1000 बच्चों में मृत बच्चों की संख्या के रूप में परिभाषित किया गया है। अतः इसमें नवजात शिशुओं की मृत्यु दर शामिल नहीं है। अपर्याप्त मातृ और बाल स्वास्थ्य (एमसीएच) सेवाओं के साथ इसके सहसम्बन्ध के अलावा, यह अपर्याप्त पोषक आहार, रोग–प्रतिरोधक टीकाकरण बहुत कम होना और पर्यावरणीय दुष्प्रभाव तथा अन्य बाह्य कारकों से भी जुड़ा है। विकसित देशों की तुलना में अल्प विकसित देशों में नवजात शिशु मृत्यु दर 10 गुना ज्यादा हो सकती है। जबकि बाल मृत्यु दर 25 गुना तक ज्यादा हो सकती है। इससे विकसित देशों और अल्प विकसित देशों के बीच अंतराल तथा सुधार की गुंजाइश का संकेत मिलता है।

(च) पांच वर्ष से नीचे (अन्डर 5) आनुपातिक मृत्यु दर : यह 5 वर्ष से कम आयु समूह में कुल मृत्यु संख्या का अनुपात है। इस दर का उपयोग शिशु तथा बाल मृत्यु दर दोनों को दर्शाने के लिए किया जा सकता है। जिन समुदायों में साफ–सफाई अथवा आरोग्यता की स्थिति अच्छी नहीं है, यह अनुपात प्रति 1000 जीवित प्रसव पर 60 तक पहुंच सकता है। कुछ यूरोपीय देशों में यह अनुपात प्रति 1000 जीवित प्रसव पर 2 से भी कम है। इस दर का ऊंची होना यह बताता है कि जन्म दर तथा बाल मृत्यु दर ज्यादा है और जीवन–काल छोटा है।

(छ) वयस्क मृत्यु दर : वयस्क मृत्यु दर को प्रति 1000 व्यक्तियों में 15 से 60 वर्ष की आयु के बीच मृत्यु की सम्भावना के रूप में परिभाषित किया गया है। वयस्क मृत्यु दर विभिन्न देशों के बीच प्रमुख कामकाजी आयु समूह में स्वास्थ्य के अन्तर का विश्लेषण करने का एक जरिया प्रदान करती है। लगभग सभी देशों में महिलाओं की तुलना में पुरुषों की वयस्क अवस्था में मृत्यु होने की संभावना ज्यादा है लेकिन अलग–अलग देशों के बीच यह अन्तराल काफी ज्यादा है। जापान में इस उत्पादक आयु समूह में 10 में से एक से भी कम (महिलाओं के मामले में 20 में से 1) जबकि अंगोला में 10 पुरुषों में से लगभग 2–3 (महिलाओं में 1–2) वयस्कों की मृत्यु होने की संभावना होती है।

(ज) मातृक /प्रासविक मृत्यु दर : अधिकांश विकासशील देशों में महिलाओं में प्रजनक आयु के दौरान प्रासविक मृत्यु का अनुपात सबसे ज्यादा है। देश के सामाजार्थिक स्तर के अनुसार प्रासविक मृत्यु दर में बहुत ज्यादा अंतराल है।

(झ) रोग–विशिष्ट मृत्यु दर : किसी रोग–विशेष से होने वाली मृत्यु दर की गणना की जा सकती है। चूंकि ज्यादातर देश संचारी–रोगों से लगभग पूरी तरह मुक्ति पाने लगे हैं, इसलिए खास बीमारियों की समस्याओं के पैमानों के रूप में कैंसर से मृत्यु, हृदय (कार्डियो–वास्क्यूलर) रोगों से मृत्यु, दुर्घटना, डायबिटीज आदि से मृत्यु की गणना के लिए अन्य नए संकेतक तैयार किए गए हैं।

(ट) आनुपातिक मृत्यु दर : किसी समुदाय में किसी रोग–विशेष की व्यापकता का अनुमान लगाने का सबसे आसान तरीका आनुपातिक मृत्यु दर है यानि कुल मृत्यु दर में इस रोग–विशेष से होने वाली मृत्यु का अनुपात कितना है। उदाहरण के लिए, यूरोपीय देशों में होने वाली कुल मौतों में 25–30 प्रतिशत मौतों का कारण हृदय–रक्तवाहिनी रोग (कौरोनरी डिजीज) है। संचारी रोगों से होने वाली मौतों की आनुपातिक मृत्यु दर को स्वास्थ्य स्तर का एक उपयोगी संकेतक बताया गया है। यह उन मौतों की व्याप्तता को दर्शाता है जिन्हें रोका जा सकता था।

(ढ) रोग विशेष से संभावित मृत्यु दर (केस फैटालिटी रेट) : इस दर के द्वारा एक निर्धारित अवधि में किसी खास बीमारी से लोगों की मृत्यु के जोखिम (संभावना) का मापन किया जाता है। एक विशिष्ट समयावधि में किसी खास बीमारी से होने वाली मौतों की संख्या को इसी अवधि में इस रोग से ग्रस्त होने वाले व्यक्तियों की संख्या से विभाजित करके इस दर की गणना की जाती है। आम तौर पर इसे प्रति 100 के रूप में व्यक्त किया जाता है। केस फैटालिटी रेट का उपयोग मृत्यु दर को रुग्णता से सम्बद्ध करने के लिए किया जाता है। केस फैटालिटी रेट का एक कार्य किसी रोग–विशेष के विभिन्न पहुलओं अथवा विशेषताओं जैसे कि इसकी रोग मूलकता (पैथौजेनिसिटी), प्रचंडता (सिविएरिटी) अथवा सांघातिकता (वायरुलेन्स) का आकलन किया जाता है। जहर के प्रभाव, किसी रसायन के सम्पर्क में आने या किसी अल्प अवधि के गैर–बीमारी (नॉन–डिजीज) वाले कारण से होने वाली मृत्यु के आकलन में भी इस दर का उपयोग संभव है।

(ड) संभावित जीवन अवधि की हानि : संभावित जीवन अवधि की हानि कम आयु में मृत्यु होने से शेष जीवन अवधि की हानि पर आधारित है। इसे मृतक व्यक्ति किस उम्र तक सम्भवतः जीवित रह सकता था (यानि वह उम्र जो विवेक से निर्धारित की गई है, आम तौर पर 75 वर्ष) के रूप में परिभाषित किया गया है। एक 30 वर्षीय व्यक्ति जिसकी मृत्यु एक सड़क दुर्घटना में हो गई है, वह सैद्धान्तिक रूप से औसतन 75 वर्ष की आयु तक जीवित रह सकता था, इस प्रकार 45 वर्ष के जीवन की हानि हुई। मृत्यु दर से जुड़े संकेतक स्वास्थ्य स्तर के पारम्परिक पैमानों के प्रतीक हैं। आज भी, सम्भवतः ये स्वास्थ्य के सर्वाधिक उपयोग होने वाले अप्रत्यक्ष संकेतक बने हुए हैं। अनेक देशों में संक्रामक रोगों पर नियंत्रण पा लिया गया है, मृत्यु दर काफी कम हो गई है। इसके फलस्वरूप विकसित देशों में मृत्यु दर संकेतकों की अहमियत कम हो रही है।

2. रुग्णता संकेतक : केवल मृत्यु दर के रूप में स्वास्थ्य स्तर को व्यक्त करना भ्रामक है। क्योंकि मृत्यु दर संकेतक किसी समुदाय में खराब–स्वास्थ्य के प्रभाव का खुलासा नहीं करते हैं, मानसिक बीमारी और गठिया की बीमारी इसके उदाहरण हैं। इसलिए रुग्णता संकेतक किसी समुदाय–विशेष के स्वास्थ्य स्तर को व्यक्त करने में मृत्यु दर संकेतकों के अनुपूरक की भूमिका निभाते हैं। रुग्णता संकेतकों की भी अपनी खामियां हैं।

ये कई ऐसी परिस्थितियों को नजर–अन्दाज कर जाते हैं, जो अर्ध–नैदानिक या कहा जाए कि आभाषी यानि बीमारी के नजर न आने वाले लक्षण होते हैं।

किसी समुदाय विशेष के खराब स्वास्थ्य के आकलन के लिए नीचे दिए गए रुग्णता संकेतक उपयोग किए जाते हैं :–

(क) आपतन और व्यापकता

(ख) संज्ञान में आने वाली आपतन दर यानि अधिसूचना दर

(ग) बाह्य रोग विभागों, स्वास्थ्य केन्द्रों आदि में रोगियों की दर

(घ) भर्ती, पुनः भर्ती और अस्पताल से मरीजों की छुट्टी दर

(ङ) अस्पताल में भर्ती रहने की अवधि, और

(च) बीमारी की अवधि अथवा कार्य या विद्यालय से अनुपस्थिति की अवधि।

3. विकलांगता दर : स्वास्थ्य के क्षेत्र में भारी–भरकम व्यय के बावजूद बीमारी से जुड़ी मृत्यु दर में हाल के वर्षों में उल्लेखनीय सुधार नहीं आया है। इसलिये शरीर को नुकसान के संकेतकों को मृत्यु दर या रुग्णता दर संकेतकों का अनुपूरक बनाया गया है। विकलांगता दर का आधार, इस पूर्वानुमान या सिद्धान्त को बनाया गया है कि वह अपने सम्पूर्ण कार्यकलापों को सहजता से कर पाता है या नहीं। आमतौर पर विकलांगता दर को दो समूहों में बांटा गया है– (क) घटना– प्रकार के संकेतक और (ख) व्यक्तिगत– प्रकार के संकेतक।

(क) घटना– प्रकार के संकेतक

i) कुल दिन जब कार्य–कलाप सीमित रहे।

ii) कुल दिन जब चोट के कारण बिस्तर पर आराम करना पड़ा।

iii) एक विनिर्दिष्ट अवधि के दौरान कितने कार्य–दिवस (या विद्यालय से अनुपस्थिति दिवस) का नुकसान हुआ।

(ख) व्यक्तिगत– प्रकार के संकेतक

i) **चलने–फिरने पर प्रतिबंध :** उदाहरण के लिए बिस्तर तक सीमित, घर के अन्दर तक सीमित, घर के अन्दर या बाहर आने जाने के लिए विशेष सहारे की जरूरत।

ii) **सीमित कार्य–कलाप :** उदाहरण के लिये केवल बुनियादी दिनचर्या जैसे खाना–पीना, धुलाई, कपड़े पहनना, शौचालय जाना, आस–पास चलना फिरना तक सीमित; बड़े–कामों में बाधा अर्थात्, किसी जॉब पर काम करने की सक्षमता अथवा गृह–कार्य आदि करने की सक्षमता।

हेल (हैल्थ–ऐडजस्टेड लाइफ एक्सपेक्टेन्सी) यानि स्वास्थ्य– समायोजित उत्तरजीविता : स्वस्थ उत्तरजीविता को मापने के लिए उपयोग किए जाने वाले संकेतक का नाम डेल (विकलांगता– समायोजित उत्तरजीविता) यानि डिसेबिलिटी– ऐडजस्टेड लाइफ ऐक्सपेक्टेन्सी से बदल कर **HALE** (हैल्थ– ऐडजेस्टेड लाइफ ऐक्सपेक्टेंसी) कर दिया गया है। हेल जन्म के समय उत्तरजीविता पर आधारित है, लेकिन इसमें खराब स्वास्थ्य की अवधि का समायोजन शामिल है। इसको आसानी से इस प्रकार समझा जा सकता है– खराब स्वास्थ्य की वर्तमान दर और मृत्यु दर को आधार बनाया जाए तो एक नवजात शिशु पूर्णतया स्वस्थ्य जीवन कितने वर्ष तक जीएगा। पूर्णतया स्वस्थ जीवन वाले ये वर्ष स्वास्थ्य समायोजित उत्तरजीविता (हेल) कहलाएंगे।

गुणवत्ता–समायोजित जीवन वर्ष (क्यू ए एल वाई) : क्यूएएलवाई बीमारी के बोझ का मापने का एक पैमाना है। इसमें जीये गए जीवन की गुणवत्ता और मात्रा यानि कुल वर्ष दोनों शामिल हैं। इसका उपयोग चिकित्सा–दखल की मौद्रिक उपयोगिता का आकलन करने के लिए किया जाता है। क्यू ए एल वाई चिकित्सा दखल के द्वारा स्वस्थ जीवन में जुड़ने वाले वर्षों पर आधारित होता है। पूर्णतया स्वस्थ जीवन के एक वर्ष को 1.0 आधिमान दिया गया है और मृत्यु को 0.0 अधिमान दिया गया है। 1 क्यूएएलवाई (क्वाली) जीवन का 1 वर्ष × 1 उपयोगिता अधिमान = 1 क्वाली) पूर्णतया स्वस्थ रूप में जीया गया जीवन का एक वर्ष है। पूर्णतया स्वस्थ्य रूप से जीया गया आधा वर्ष 0.5 क्वाली (1 वर्ष × 0.5 उपयोगिता अधिमान) होगा।

विकलांगता–मुक्त जीवन (सक्रिय उत्तरजीविता) : यदि मौजूदा मृत्यु एवं विकलांगता दर लागू रहे तो कोई व्यक्ति औसत कितने वर्ष तक जीवित रह सकता है, उसे विकलांगता–मुक्त उत्तरजीविता (डीएफएलई) कहते हैं।

विकलांगता–समायोजित जीवन वर्ष (डेली) : डेली बीमारी के बोझ को नापने का एक पैमाना है। इसे बीमारी, विकलांगता और कम आयु में मृत्यु के कारण जीवन के खोये हुए वर्षों के रूप में अभिव्यक्त किया जाता है। इसके विकास का श्रेय हार्वड विश्वविद्यालय को जाता है। विश्वविद्यालय ने यह संकेतक 1990 में विश्व बैंक के लिए बनाया था। बाद में विश्व स्वास्थ्य संगठन (डब्लू.एच.ओ.) ने वर्ष 2000 में इस पद्धति को अपनाया। अब तो डेली जन स्वास्थ्य और स्वास्थ्य के प्रभाव को नापने का एक आम पैमाना बनता जा रहा है। ग्लोबल डिसीज बर्डेन नामक परियोजना में कम आयु में मृत्यु को विकलांगता के साथ जोड़ा गया है। इस परियोजना में एक ही पैमाने के जरिए जान–लेवा और गैर जान–लेवा अहम हालातों का जनसंख्या पर प्रभाव ब्यौरा जुटाया जाता है। परियोजना में उपयोग किया गया प्रमुख पैमाना विकलांगता– समायोजित जीवन वर्ष (डैली) है। यह पैमाना निम्नलिखित दो संकेतकों का योग है:

खो दिए गए जीवन के वर्ष (वाई एल एल) : प्रत्येक आयु में हुई मौतों की संख्या को उत्तरजीविता संबंधी वैश्विक मानक के अनुसार संभावित जीवन के शेष वर्षों से गुणा करके वाई एल एल की गणना की जाती है।

विकलांगता की वजह से खो दिए गए वर्ष (वाई एल डी) : चोट और बीमारी वाले मामलों की कुल संख्या को बीमारी की औसत अवधि और 0 (पूर्णतया स्वस्थ) से 1 (मृत्यु) के पैमाने पर बीमारी की प्रचण्डता दर्शाने वाले कारक अधिमान से गुणा करके आकलित किया जाता है। इसकी गणना का सामान्य सूत्र है– डी ए एल वाई (डैली) = वाई एल एल + वाई एल डी।

यह माना गया है कि पुरानी बीमारी के प्रभाव का सबसे उचित मापक समय है और यह इसी विश्वास पर आधारित है। इसलिए एक डैली (डी ए एल वाई) स्वस्थ जीवन के खोए गए एक वर्ष के बराबर है। कम आयु में मृत्यु को मापने के लिए जापानियों की उत्तरजीविता को मानक माना गया है क्योंकि जापानियों की उत्तरजीविता सबसे लम्बी होती है।

डेली किसी आबादी विशेष के स्वास्थ्य के बारे में आश्चर्यजनक जानकारियों का खुलासा कर सकते हैं। उदाहरण के लिए, विश्व स्वास्थ्य संगठन की 1990 की रिपोर्ट में बताया गया था कि विकलांगता के 10 प्रमुख कारणों में 5 कारण मनोविकृति सम्बन्धी स्थिति से जुड़े थे। हालांकि विकलांग जीवन कुल वर्षों में से 28 प्रतिशत वर्ष का कारण मनोविकृति या न्यूरोलॉजिकल (तंत्रिका तंत्र) परिस्थितियां थी लेकिन सभी प्रकार की मौतों में इसका योगदान केवल 1.4 प्रतिशत और खो गए जीवन के वर्षों में 1.1 प्रतिशत था। इस प्रकार, इनका जनसमुदाय पर बहुत प्रभाव पड़ता है। डैली से जुड़े अध्ययनों की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें ''सामाजिक अधिमान'' का प्रयोग किया जाता है, इसमें जीवन के प्रत्येक वर्ष का मूल्य आयु पर निर्भर करता है। सामान्यतया, युवा–वयस्क की तरह जीये गए जीवन को किशोर– बालक की तरह अथवा अधिक आयु वाले प्रौढ़ों (वृद्ध) की तुलना में ज्यादा मूल्य (अधिमान) दिया जाता है। अधिमानता वाली यह व्यवस्था बताती है कि समाज उत्पादकता और बच्चों के पालन–पोषण पर किए गए निवेश पर प्रतिफल में अभिरुचित रखता है। बीमारी की प्रचण्डता और अवधि पर निर्भर करते हुए उत्तरजीविता और खो दिए गए वर्ष, डिस्काउन्टिंग और सामाजिक अधिमानता के बीच ''अन्योन्य क्रिया'' (इंटर प्ले) के प्रभाव अत्यन्त जटिल होते हैं।

4. पौषणिक स्तर संकेतक (पोषकता का स्तर संबंधी संकेतक) : यह एक सकारात्मक स्वास्थ्य संकेतक है। स्वास्थ्य स्तर के संकेतकों के रूप में पौषणिक स्तर से संबंधित तीन संकेतक हैं–

क) स्कूल–पूर्व आयु वाले बच्चों का मानवनितिक (एन्थ्रोपोमेट्रिक) मापन अर्थात् वजन और लम्बाई, मध्य–भुजा घेरा (मिड–आर्म सर्कमफेरेन्स);

ख) स्कूल जाने की आयु के समय बच्चे की लम्बाई (और कभी–कभी वजन);

ग) जन्म के समय कम वजन (2.5 कि.ग्रा. से कम) की व्याप्तता।

5.स्वास्थ्य देखभाल सेवा के संकेतक : स्वास्थ्य–देखभाल सेवा के वे संकेतक जिनका बहुधा उपयोग होता है। इस प्रकार हैं–

क) डॉक्टर–जनसंख्या अनुपात,

ख) डॉक्टर–नर्स अनुपात,

ग) जनसंख्या–बिस्तर (बेड) अनुपात,

घ) प्रति स्वास्थ्य केन्द्र/उपकेन्द्र–जनसंख्या अनुपात,

ङ) जनसंख्या के हिसाब से दाइयों या प्रसव सहायक की संख्या।

ये संकेतक देश के अलग–अलग भागों में स्वास्थ्य–संसाधनों के वितरण, स्वास्थ्य देखभाल के प्रावधानों में समानता को दर्शाते हैं।

6.स्वास्थ्य सेवा की उपयोग दर : स्वास्थ्य स्तर के बारे में और अधिक जानकारी हासिल करने के लिए, बहुधा यह पड़ताल की जाती है कि स्वास्थ्य सेवाओं का कितना उपयोग हो रहा है। सेवाओं के उपयोग–अथवा वास्तविक कवरेज को, स्वास्थ्य सेवाओं के जरुरतमंद वे लोग जो एक तय अवधि, आमतौर पर एक वर्ष के दौरान ये सेवाएं पा रहे हैं, के अनुपात के रूप में व्यक्त किया जाता है। यह तर्क दिया जाता है कि उपयोग दर जन समुदाय की देखभाल संबंधी आवश्यकता के कुछ संकेत देता है, इसलिए इससे जन–समुदाय के स्वास्थ्य स्तर का कम पता चलता है। दूसरे शब्दों में स्वास्थ्य देखभाल सेवाओं के उपयोग और स्वास्थ्य संबंधी जरूरतों और स्तर के बीच एक संबंध होता है। स्वास्थ्य देखभाल सेवाओं के उपयोग पर स्वास्थ्य सेवाओं की उपलब्धता और पहुंच और व्यक्ति का अपने स्वास्थ्य तथा स्वास्थ्य देखभाल व्यवस्था के प्रति रवैया जैसे कारकों का प्रभाव पड़ता है। उपयोग दर के कुछ उदाहरण नीचे दिए गए हैं–

क)नवजात शिशुओं का अनुपात जिन्हें 6 बीमारियों का टीका लगाकर प्रतिरक्षित किया गया।

ख) गर्भवती महिलाओं का अनुपात जिन्हें प्रसव–पूर्व देखभाल सेवा मिलती है अथवा प्रशिक्षित प्रसव सहायकों की निगरानी में बच्चे को जन्म देती हैं।

ग) परिवार नियोजन के विभिन्न तरीकों का उपयोग करने वाले लोगों की संख्या।

घ) मरीज–दाखिला दर (यानि प्रतिदिन भर्ती होने वाले मरीजों की औसत संख्या/उपलब्ध बिस्तरों की औसत संख्या)

ङ) भती रहने की औसत अवधि (यानि कितने दिन देखभाल की गई/केन्द्र से छुट्टी दी गई), और

च) बेड टर्न ओवर अनुपात (यानि केन्द्र से छुट्टी दी गई/बिस्तरों की औसत संख्या

उपरोक्त सूची न तो विस्तृत है और ना ही इसमें सब कुछ शामिल है। उपलब्ध कराई जा रही सेवाओं के आधार पर सूची को विस्तार दिया जा सकता है ये संकेतक किसी जनसमुदाय में बीमारी के जैविक पहलुओं की बजाय स्वास्थ्य देखभाल सेवाओं की प्रदायगी के बारे में उस संगठन के सामाजिक दायित्वों के निर्वहन की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं।

7.सामाजिक और मानिसक स्वास्थ्य के संकेतक : जब तक सामाजिक और मानसिक स्वास्थ्य के मान्य सकारात्मक संकेतकों की उपलब्धता कम रहेगी, हमें अप्रत्यक्ष मापकों यानि सामाजिक और मानसिक रोग मूलकों (पैथोलॉजी) का उपयोग करना होगा। इनमें आत्महत्या, हत्या, हिंसक कृत्य तथा अन्य अपराध, सड़क दुर्घटनाओं, किशोर अपराध, शराब और नशे की लत, धूमपान, नींद की गोलियों या स्वापक औषधियों के सेवन आदि शामिल हैं। इनमें घरेलू हिंसा, बच्चों और पत्नी के साथ मारपीट पास–पड़ौस में उपेक्षित तथा परित्यक्त बच्चों को भी शामिल किया जा सकता है। ये संकेतक जन–समुदाय के स्वास्थ्य में सुधार के लिए सामाजिक उपायों हेतु मार्गदर्शन प्रदान करते हैं।

8.पर्यावरण सम्बन्धी संकेतक : यह संकेतक स्वास्थ्य संबंधी पर्यावरण के प्रारम्भिक बिन्दु के रूप में उपयोग किए जाने वाले भौतिक और जैविक संकेतकों की गुणवत्ता दर्शाता है। यहां हम उस पर्यावरण की चर्चा कर रहे हैं, जिसमें बीमारियां जन्म लेती हैं और लोग रहते हैं। इनमें जल और वायु प्रदूषण, रेडिएशन, ठोस अपशिष्ट (कचरा), शोर–शराबा, खाद्य एवं पेय पदार्थों में जहरीले अपशिष्ट आदि से संबंधित संकेतक शामिल हैं। लोगों को स्वच्छ पेयजल और साफ–सफाई सुविधाओं की उपलब्धता, उदाहरण के लिए घर पर ही स्वच्छ पेयजल की उपलब्धता या घर से 15 मिनट की दूरी पर नलकूप या संरक्षित कुए की उपलब्धता, घर तथा आसपास के क्षेत्र में साफ–सफाई से संबंधित संकेतक सबसे ज्यादा उपयोगी हैं।

9.सामाजार्थिक संकेतकः ये संकेतक स्वास्थ्य का सीधे (प्रत्यक्ष) आकलन नहीं करते हैं। तथापि, स्वास्थ्य–देखभाल से जुड़े संकेतकों को समझाने में इनकी बहुत बड़ी भूमिका है। इनमें निम्नलिखित शामिल हैं–

क) जनसंख्या वृद्धि दर
ख) प्रति व्यक्ति सकल राष्ट्रीय उत्पाद (जीएनपी)
ग) बेरोजगारी का स्तर
घ) निर्भरता अनुपात
ड) साक्षरता दर, विशेष रूप से महिला साक्षरता दर
च) परिवार का आकार
झ) आवास, एक कमरे में रहने वाले लोगों की संख्या और
ज) प्रति व्यक्ति ''कैलोरी'' की उपलब्धता या खपत

10.जीवन–गुणवत्ता से संबंधित संकेतक : मृत्यु और रुग्णता से सम्बन्धित आंकड़ों पर बार–बार प्रश्नचिन्ह लगते रहे हैं कि क्या ये आंकड़े किसी जन–समुदाय के स्वास्थ्य–स्तर को पूरी तरह दर्शाते हैं? पहले बढ़ती

उत्तरजीविता को स्वास्थ्य संकेतक के रूप में ज्यादा अहमियत दी जाती थी। लेकिन अब इसे विशेषकर विकासशील देशों में पर्याप्त नहीं माना जाता है और अब लोग और समुदाय कैसा जीवन आनन्द लेते हैं, उसकी ओर ज्यादा ध्यान दिया जा रहा है। जीवन गुणवत्ता को परिभाषित करना मुश्किल है, और मापना इससे भी ज्यादा मुश्किल है। अलग–अलग स्वास्थ्य संकेतकों को मिलाकर एक सर्वनिहित संकेतक तैयार करने के अनेक प्रयास हुए हैं। जीवन की भौतिक गुणवत्ता से जुड़ा सूचकांक इसका एक उदाहरण है। इसमें तीन संकेतकों नामतः शिशु मृत्यु, एक वर्ष की आयु पर उत्तरजीविता और साक्षरता को समेकित किया गया है। निश्चय ही, जीवन–गुणवत्ता के संकेतक तैयार करने के लिए और ज्यादा प्रयास की आवश्यकता है।

11.स्वास्थ्य–नीति संबंधी संकेतक : राजनैतिक प्रतिबद्धता का अकेला सबसे महत्वपूर्ण संकेतक ''पर्याप्त संसाधनों का आबंटन है। इससे संबंधित संकेतक है– (क) स्वास्थ्य सेवाओं पर व्यय किए गए जीएनपी का प्रतिशत, (ख) स्वास्थ्य संबंधी कार्यकलापों (जलापूर्ति और साफ–सफाई, आवास और पोषण, सामुदायिक विकास सहित) पर व्यय किए गए जीएनपी (सकल राष्ट्रीय उत्पाद का प्रतिशत) और (ग) प्राथमिक या बुनियादी स्वास्थ्य देखभाल के लिए समर्पित (विशेष रूप से चिन्हित) कुल स्वास्थ्य संसाधनों का प्रतिशत।

अन्य संकेतकों की श्रृंखला :

(क) सामाजिक संकेतक : संयुक्त राष्ट्र के सांख्यिकी कार्यालय द्वारा सामाजिक संकेतकों की परिभाषा के अनुसार इन्हें 42 श्रेणियों में बांटा गया है। ये श्रेणियां हैं– परिवार संरचना, परिवार एवं घर, अधिगम एवं शैक्षिक सेवाएं, उपार्जक कार्यकलाप, आय का वितरण, उपभोग एवं संचय, सामाजिक सुरक्षा और कल्याण सेवाएं, स्वास्थ्य सेवाएं और पोषण; आवास और इसका पर्यावरण, लोक व्यवस्था और संरक्षा, समय उपयोग, अवकाश एवं संस्कृति, सामाजिक स्तरीकरण एवं रुग्णता।

(ख) बुनियादी आवश्यकता संकेतकः अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (आईएलओ) बुनियादी आवश्यकता संकेतकों का उपयोग करता है। ''बुनियादी आवश्यकता निष्पादन'' में उल्लिखित संकेतकों में कैलोरी खपत; जल–उपलब्धता; उत्तरजीविता; बीमारी के कारण मृत्यु; निरक्षरता; आबादी के अनुपात में डाक्टर एवं नर्सें; प्रति व्यक्ति कक्ष (कमरा); प्रति व्यक्ति जी एन पी (सकल राष्ट्रीय उत्पाद) शामिल हैं।

1.स्वास्थ्य नीति संकेतकः

''सभी के लिए स्वास्थ्य'' के प्रति राजनैतिक कटिबद्धता
संसाधन आबंटन
स्वास्थ्य सेवाओं के वितरण में समानता की स्थिति
सामुदायिक सहभागिता
संगठनात्मक ढाचा और प्रबंधकीय प्रक्रिया

2.स्वास्थ्य से जुड़े सामाजिक और आर्थिक संकेतकः

जनसंख्या वृद्धि की दर

जीएनपी अथवा जीडीपी (सकल राष्ट्रीय उत्पाद अथवा सकल घरेलू उत्पाद)

आय वितरण

कार्य स्थिति

वयस्क साक्षरता दर

आवास

खाद्य उपलब्धता

3.स्वास्थ्य देखभाल के प्रावधान के लिए संकेतकः

उपलब्धता

अभिगम्यता (एक्सेसिबिलिटी)

उपयोग

देखभाल की गुणवत्ता

4.स्वास्थ्य स्तर संकेतकः

जन्म के समय कम वजन (प्रतिशत)

पोषण स्तर और बच्चे का मनोवैज्ञानिक विकास

शिशु मृत्यु दर

बाल मृत्यु दर

जन्म के समय उत्तरजीविता

मातृक मृत्यु दर

रोग–विशिष्ट मृत्यु दर

रुग्णता–आयतन और प्रभाव क्षेत्र (इन्सीडेन्स और प्रिवीलेंस)

विकलांगता की व्याप्तता

(घ)सहस्राब्दि विकास लक्ष्य संकेतक : संयुक्त राष्ट्र संघ वर्ष 2000 में सहस्राब्दि विकास लक्ष्य अंगीकार किया था। इस लक्ष्य के तहत विश्व–स्वास्थ्य में सुधार के लिए ठोस कार्रवाई का आह्वान किया गया है।

स्वास्थ्य से सम्बन्धित अथवा अप्रत्यक्ष रूप से जुड़े संकेतकों की तलाश जारी है। उपरोक्त चर्चा में देखा जा सकता है कि किसी देश के स्वास्थ्य के आकलन के लिए कोई व्यापक संकेतक नहीं है। प्रत्येक संकेतक स्वास्थ्य के किसी एक पहलू को दर्शाता है। कोई ऐसा सूचकांक जो इन अलग–अलग संकेतकों द्वारा मापे गए घटकों को एक साथ दर्शाए, अभी तक विकसित नहीं किया जा सका है। जब तक इस एकल वैश्विक सूचकांक की तलाश जारी है, एक प्रोफाइल या निश्चित क्रम में व्यवस्थित किए गए ये अनेक संकेतक विभिन्न क्षेत्रों, प्रदेशों और देशों के बीच तुलना को सम्भव बनाएंगे। पिछले कुछ दशकों में, गैर–आर्थिक

निष्पादनों (अर्थात् जीएनपी या जीडीपी) की बजाय समाज के निष्पादन और जीवन की गुणवत्ता का आकलन करने पर विशेष ध्यान दिया गया है।

5.स्वास्थ्य–संबंधित सहस्राब्दि विकास लक्ष्य और संकेतक

लक्ष्य–1 चरम गरीबी और भूख का उन्मूलन

संकेतकः

4. 5 वर्ष से कम आयु के बच्चों में कम वनज की समस्या की व्याप्तता
5. ऐसे जन–समुदाय का अनुपात जिनमें दैनिक आहार–उर्जा निर्धारित स्वर से कम मिल रही है।

लक्ष्य 4 :– बाल मृत्यु दर में कमी लाना

संकेतक :

13. पांच वर्ष से कम आयु समूह में मृत्यु दर
14. शिशु मृत्यु दर
15. चेचक से बचाव के लिए टीकाकृत (प्रति रक्षित) 1 वर्ष की आयु के बच्चों का अनुपात

लक्ष्य 5 :– मातृक स्वास्थ्य में सुधार

संकेतक :

16. मातृक मृत्यु दर
17. प्रशिक्षित स्वास्थ्य सहायकों की निगरानी में प्रसव का अनुपात

लक्ष्य 6 :– एचआईवी/एड्स, मलेरिया तथा अन्य बीमारियों के खिलाफ संघर्ष

संकेतक :–

18. 15–24 वर्ष के युवाओं में एचआईवी की व्याप्तता
19. कन्डोम इस्तेमाल की दर या गर्भ निरोधक उपायों की प्रसार दर
20. एचआईवी/एड्स के कारण अनाथ हुए बच्चों की संख्या
21. मलेरिया की व्याप्ता और मृत्यु दर
22. मलेरिया के जोखिम वाले क्षेत्रों में रहने वाले लोगों का अनुपात, जो मलेरिया की रोकथाम और उपचार के लिए कारगर उपाय इस्तेमाल कर रहे हैं।
23. टी.बी. रोग की व्याप्तता और इस रोग से जुड़ी मृत्यु दर
24. टी.बी. के संज्ञान में आए मामलों और डाइरेक्टली ऑबर्ज्वड ट्रीटमेंट, शौर्ट कोर्स (डॉट्स) के तहत रोगमुक्त मामलों का अनुपात

लक्ष्य 7 :– पर्यावरणीय स्थायित्व सुनिश्चित करना

संकेतक :

29. ठोस ईंधन का इस्तेमाल करने वाले लोगों का अनुपात
30. ग्रामीण और शहरी जन समुदाय का अनुपात जिन्हें स्थायी जल स्रोत उपलब्ध हैं।
31. शहरी आबादी का अनुपात, जिन्हें साफ–सफाई की बेहतर सुविधाएं उपलब्ध हैं।

लक्ष्य : 8. विकास के लिए वैश्विक साझीदारी कायम करना

संकेतक : 46– आबादी का अनुपात जिसे आवश्यक औषधियां स्थायी तौर पर किफायती दामों में उपलब्ध है।

1.7 सारांश

इकाई के अध्ययन के पश्चात् हम स्वास्थ्य की अवधारणा को जान चुके हैं तथा स्वास्थ्य के अभिप्राय तथा विभिन्न परिभाषाओं तथा सर्वाधिक प्रचलित परिभाषा से भी परिचित हो चुके हैं। साथ ही स्वास्थ्य के विभिन्न आयामों को भी जान चुके हैं। इकाई के माध्यम से हम प्रमुख रूप से स्वास्थ्य के संकेतकों को भी पहचान चुके हैं।

1.8 शब्दावली

स्वास्थ्य के आयाम (Dimensions of Health): स्वास्थ्य के प्रमुख पांच (5) आयाम हैं, ये हैं शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, आध्यात्मिक तथा भावनात्मक आयाम। ये आयाम स्वास्थ्य का पूरा परिदृश्य प्रस्तुत करते हैं। स्वास्थ्य के आयाम के बीच यह अन्तर सम्बन्ध महत्वपूर्ण पहलुओं में से एक है।

स्वास्थ्य के संकेतक (Health Indicators): किसी भी समुदाय के स्वास्थ्य को मापने के लिए ही नहीं बल्कि किसी देश विशेष के स्वास्थ्य स्तर की किसी अन्य देश के स्वास्थ्य स्तर की तुलना करने के लिए भी स्वास्थ्य के संकेतक जरुरी हैं, संकेतकों से यह मापने में भी मदद मिलती है कि किसी कार्यक्रम के उद्देश्य किस सीमा तक प्राप्त कर लिये गये हैं।

1.9 अभ्यास प्रश्न

1. विश्व स्वास्थ्य सम्मेलन वर्ष 1978 में कहां आयोजित हुआ था?

   (अ) मास्को (ब) अल्मा–आटा (स) कैलीफोर्निया (द) जेनेवा

2. उपरोक्त सम्मेलन का लक्ष्य कब तक सभी के लिए स्वास्थ्य देना निर्धारित था?

   (अ) 2020 (ब) 2000 (स) 1990 (द) 2015

3. 'मैन, मेडिसिन एण्ड इन्वायरमेन्ट' के लेखक का क्या नाम है?

   (अ) पार्किन्स (ब) डी कोस्टा (स) आर डुबोस (द) ग्रीन

4. स्वास्थ्य देखभाल के प्रमुख संकेतक कितने हैं?

(अ) 2 (ब) 6 (स) 4 (द) 5

अभ्यास प्रश्नों के उत्तर–

1. (ब) 2. (ब) 3. (स) 4. (द)

1.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. डुबोस, आर. (1965), मैन एडैप्टिंग, न्यू हैवेन, येले यूनी. प्रेस
2. डोनाल्ड, सी.ए. एट एल (1978), सोसल हैल्थ, इनः कॉन्सैप्चुलाइजेशन एण्ड मेजरमेंन्ट ऑफ हैल्थ फार एडल्ट्स इन द हैल्थ इन्श्यूरेन्स स्टडी, सान्ता मोनिका, सीए, रैन्ड कार्पोरेशन
3. डुबोस, आर. (1969), डब्लूएचओ क्रोनिकल, 23:499
4. नागपाल, आर. एण्ड सैल, एच. (1985), सब्जैक्टिव वैलबिइंग, रैगुलर हैल्थ पेपर नं. 7 डब्लूएचओ– सियरो, नई दिल्ली
5. जुकानोविच, वी एण्ड माच इ पी (1975), अल्टरनेटिव एप्रोचेज टू मीटिंग बेसिक हैल्थ नीड्स इन डवलपिंग कन्ट्रीज, ए ज्वाइंट यूनीसेफ/डब्लूएचओ स्टडी
6- के. पार्क (2015), पार्क'स टैक्स्ट बुक ऑफ सोशियल एण्ड प्रीवेन्टिव मेडीसिन, बनारसी दास भनोट पब्लिशर्स

1.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. अहमद, एण्ड कोल्हो (1979), टू वर्ड्स ए न्यू डैफिनेशन ऑफ हैल्थ, प्लेयूम, एन वाई
2. नोबल, जॉन (1976), प्राइमरी केयर एण्ड प्रैक्टिस ऑफ मेडिसिन, लिटिल ब्राउन, बोस्टन
3. बनर्जी (1985), हैल्थ एण्ड फैमिली प्लानिंग सर्विस इन इंडिया, लोकपक्ष, नई दिल्ली
4. आईसीएसएसआर एण्ड आईसीएमआर (1981), हैल्थ फार आल, ऐन अल्टरनेटिव स्ट्रटेजी, वोलन्ट्री हैल्थ एसासिशयन ऑफ इंडिया, नई दिल्ली
5. टवॉड्ल, ए सी एण्ड हैसलर, आर एम (1977), सोसियोलॉजी ऑफ हैल्थ, सैन्ट लुइस, मोसबी
6. लास्ट, जे एम (1983), ए डिसनरी ऑफ इपिडिमीयोलॉजी, ऑक्सफोर्ड यूनीर्सिटी प्रेस
7. रेटक्लिफ, जॉन (1984), इनः प्रैक्टिसिंग हैल्थ ऑफ ऑल, डेविड मोरले, एट एल (एडि), ऑक्सफोर्ड यूनिर्सिटी प्रेस
8. मोरिस, डी एन एण्ड निचेल, वी एस (1982), मिजरिंग द कंडीशन ऑफ इंडियाज पुअर्स, पीक्यूएलआई, प्रोमिला एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली

1.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. स्वास्थ्य की प्रमुख अवधारणाओं को स्पष्ट कीजिए?
2. स्वास्थ्य का अभिप्राय क्या है, साथ ही स्वास्थ्य की विभिन्न परिभाषाओं का विवेचन करें?
3. स्वास्थ्य के विभिन्न आयामों को विस्तार पूर्वक बतायें?
4. प्रमुख स्वास्थ्य संकेतकों का वर्णन कीजिए?

इकाई 2: स्वास्थ्य के प्रकार और प्रतिमान: जैव चिकित्सकीय,पारिस्थितिकीय और साकल्य तथा स्वास्थ्य के सामाजिक निर्धारक

(Forms, Models of Health- Biomedical, Ecological, Psychological and Holistic & Social Determinants of Health)

2.1 उद्देश्य

2.2 प्रस्तावना

2.3 स्वास्थ्य के विभिन्न प्रकार ओर प्रतिमान

2.3.1.जैव-चिकित्सकीय अवधारणा

2.3.2 पारिस्थितिकीय अवधारणा

2.3.3 मनोवैज्ञानिक अवधारणा

2.3.4 साकल्यवादी (होलिस्टिक) अवधारणा

2.4 स्वास्थ्य के सामाजिक निर्धारक

(i) जैविक निर्धारक

(ii) व्यावहारिक तथा सामाजिक–सांस्कृतिक परिस्थितियां

(iii) पर्यावरण

(iv) सामाजार्थिक परिस्थितियां

(v) स्वास्थ्य सेवाएं

(vi) अन्य कारक

2.5 स्वास्थ्य और विकास

2.6 स्वास्थ्य विकास

2.7 सारांश

2.8 शब्दावली

2.9 अभ्यास प्रश्न

2.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची

2.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

2.12 निबंधात्मक प्रश्न

2.1 उद्देश्य

इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप–

1. स्वास्थ्य के विभिन्न प्रकार तथा प्रतिमान (मॉडल्स) को जानने में समर्थ होंगे।
2. स्वास्थ्य के विभिन्न निर्धारक व वेरियेबल्स को जान सकेंगे।
3. स्वास्थ्य के विभिन्न सामाजिक निर्धारकों को पहचान सकेंगे।
4. स्वास्थ्य व विकास के परस्पर सम्बन्ध के बारे में परिचित हो सकेंगे।

2.2 प्रस्तावना

सभी प्रकार की स्वास्थ्य देखभाल के लिए स्वास्थ्य की समझ बुनियादी आधार है। समुदाय–विशेष और विभिन्न पेशेवर समूहों के सभी सदस्यों की स्वास्थ्य के बारे में एक–समान अवधारणा नहीं है, इन पेशेवर समूहों में जैव–चिकित्सा विज्ञानी, सामाजिक विज्ञान के विशेषज्ञ, स्वास्थ्य प्रशासक, पारिस्थितिकीविद आदि सभी शामिल हैं। इसके चलते स्वास्थ्य की अवधारणा के बारे में भ्रम की स्थिति बनी हुई है। नित नए परिवर्तनों के इस माहौल में, नए विचारों के पैटर्न के आधार पर नई धारणाएं उभरना सुनिश्चित है।

स्वास्थ्य के अनेक कारक हैं। स्वास्थ्य पर प्रभाव डालने वाले कारक मनुष्य के अन्दर और बाहर यानि उस समाज जिसमें वह रहता है, दोनों में होते हैं।

2.3 स्वास्थ्य के विभिन्न प्रकार ओर प्रतिमान

कभी वैयक्तिक चिंता का विषय माना जाने वाला स्वास्थ्य, सदियों की विकास प्रक्रिया से गुजरते हुए आज विश्व–व्यापी सामाजिक लक्ष्य बन गया है। आज जीवन की सभी विशेषताओं को इसमें शामिल कर लिया गया है। स्वास्थ्य के बारे में बदलती अवधारणाओं का संक्षिप्त सार नीचे दिया गया है :

2.3.1. जैव-चिकित्सकीय अवधारणा

पारम्परिक रूप से, स्वास्थ्य को ''बीमारी की अनुपस्थिति'' के रूप में देखा गया है, और यदि कोई व्यक्ति रोग मुक्त था तो उसे स्वस्थ माना जाता था। ''जैव चिकित्सकीय अवधारणा'' के रूप ख्यात इस अवधारणा का आधार ''रोग का कीटाणु सिद्धान्त'' था और 20वीं शताब्दी में चिकित्सा के क्षेत्र में यह सिद्धान्त छाया रहा। चिकित्सा के पेशे से जुड़े लोगों ने मानव शरीर को एक मशीन के तौर पर देखा और बीमारी को मशीन की खराबी के रूप में माना तथा डॉक्टर का काम इस मशीन की मरम्मत करना था। और इस प्रकार स्वास्थ्य, इस संकीर्ण नजरिए से, औषधि का अंतिम लक्ष्य बन गया।

जैव चिकित्सकीय अवधारणा की आलोचना इस आधार पर की जाती है कि इसने स्वास्थ्य के पर्यावरणीय, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक निर्धारकों की भूमिका बहुत कम कर दी है।

बीमारी के इलाज में जैव चिकित्सा प्रतिमान (मॉडल) की शानदार सफलता चिकित्सा, प्रौद्योगिकी के द्वारा मनुष्य के स्वास्थ्य से जुड़ी कुछ प्रमुख समस्याओं (अर्थात् कुपोषण, पुरानी बीमारियां, दुर्घटना, नशे की लत, मानसिक रोग, पर्यावरणीय प्रदूषण, जनसंख्या विस्फोट) का निदान नहीं तलाश पाई। चिकित्सा और समाज–विज्ञान के क्षेत्र में कुछ घटनाक्रमों से यह निष्कर्ष निकला कि स्वास्थ्य की जैव–चिकित्सा अवधारणा अपर्याप्त है।

2.3.2 पारिस्थितिकीय अवधारणा

जैव चिकित्सकीय अवधारणा की खामियां, अन्य अवधारणाओं के जन्म का कारण बनी। पारिस्थितिकविदों ने एक रोचक अवधारण प्रस्तुत की, जिसमें स्वास्थ्य को मनुष्य और उसके पर्यावरण के बीच एक परिवर्तनशील संतुलन के रूप में देखा गया और बीमारी को मानव–संरचना का पर्यावरण के साथ कुसंतुलन (खराब संतुलन) के रूप में देखा गया। **डुबास** ने स्वास्थ्य को इस प्रकार परिभाषित किया हैः ''स्वास्थ्य का अभिप्राय कष्ट एवं बेचैनी की आपेक्षिक अनुपस्थिति (अपेक्षाकृत न होना) और इष्टतम सक्रियता सुनिश्चित करने के लिए पर्यावरण के साथ सतत् अनुकूलन और समायोजन से है।''

मानव, पास्थितिकी और सांस्कृतिक अनुकूलन न केवल बीमारी होने बल्कि खाद्यान्न की उपलब्धता और जनसंख्या विस्फोट का भी निर्धारण करते हैं। पारिस्थितिकी अवधारणा में दो मुद्दे उठाए गए है, दोषयुक्त मनुष्य और दोषयुक्त पर्यावरण। इतिहास गवाह है कि प्राकृतिक पर्यावरण के साथ मनुष्य के अनुकूलन से मानव की उत्तरजीविता में वृद्धि हो सकती है और आधुनिक स्वास्थ्य सेवाओं के बिना भी बेहतर जीवन जीया जा सकता है।

2.3.3 मनोवैज्ञानिक अवधारणा :

सामाजिक विज्ञान में सम-सामयिक घटनाक्रम बताते हैं कि स्वास्थ्य केवल एक जैव–चिकित्सकीय चमत्कार नहीं है बल्कि इस पर सम्बन्धित व्यक्ति के सामाजिक मनोवैज्ञानिक, सांस्कृतिक, आर्थिक तथा राजनीतिक कारकों का भी प्रभाव पड़ता है।स्वास्थ्य को परिभाषित करने और मापने में इन कारकों पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए। इसलिए स्वास्थ्य जैविक तथ्य और सामाजिक तथ्य दोनों ही हैं।

2.3.4. साकल्यवादी (होलिस्टिक) अवधारणा

साकल्यवादी प्रतिमान उपरोक्त सभी अवधारणाओं का मिला–जुला रूप है। यह स्वास्थ्य पर सामाजिक, राजनीतिक और पर्यावरणीय प्रभाव को स्वीकार करता है। इसमें अलग–अलग तरीके से स्वास्थ्य को परिभाषित करने का प्रयास किया गया है पर सबका सार यही है कि यह एक एकीकृत या बहुआयामी प्रक्रिया है, जिसमें सम्पूर्ण व्यक्ति की उसके पर्यावरण के संदर्भ में तन्दुरुस्ती शामिल है। यह दृष्टिकोण हमारे पूर्वजों के दृष्टिकोण से मेल खाता है उनका मानना था कि स्वस्थ पर्यावरण में, स्वस्थ्य परिवार में स्वास्थ्य शरीर में, स्वस्थ्य मन, यही सम्पूर्ण स्वास्थ्य है। साकल्यवादी विचारधारा कहती है कि समाज के सभी क्षेत्र, विशेषकर कृषि, पशुपालन, खाद्यान्न, उद्योग, शिक्षा, आवास, लोक कार्य, संचार आदि स्वास्थ्य पर अपना प्रभाव डालते हैं। इसमें स्वास्थ्य संवंर्धन और सरंक्षण पर जोर दिया गया है।

2.4 स्वास्थ्य के निर्धारक

यह कथन सत्य है कि मनुष्य क्या बन सकता है और किस बीमारी का शिकार बन सकता है ये दोनों ही बातें दो कारकों पर निर्भर करती हैं, पहला अनुवांशिक (जैनेटिक) कारक और पर्यावरणीय कारक जिसमें वह रहता है। इन दोनों कारकों में परस्पर–क्रिया होती है और ये परस्पर–क्रिया स्वास्थ्य संवर्धन या स्वास्थ्य–विनाशन दोनों का कारण बन सकती हैं। अतः इस अवधारणा के अनुसार, व्यक्तिगत स्वास्थ्य और पूरे समुदाय के स्वास्थ्य को ऐसी ही अनेक परस्पर–क्रियाओं का परिणाम माना जा सकता है।

(i) जैविक निर्धारक

प्रत्येक व्यक्ति की शारीरिक और मानसिक विशेषताओं का कुछ सीमा तक निर्धारण, गर्भधारण के समय, उसके जीन्स की प्रकृति द्वारा होता है। आनुवंशिक संरचना अद्वितीय होती है, गर्भधारण के पश्चात् इसे बदला नहीं जा सकता। अब, अनेक रोगों के बारे में पता चला है कि इनके मूल में अनुवांशिक कारण होते हैं। गुण–सूत्र (क्रोमोसोम) संबंधी दोष, उपापचय (मेटाबॉलिज्म) त्रुटि, मानसिक पिछड़ापन (रिटोर्डशन), कुछ प्रकार की डायबिटीज आदि इसके उदाहरण हैं। इसलिए, स्वास्थ्य-स्तर आंशिक रूप से मनुष्य की अनुवॉशिक संरचना पर निर्भर करता है।

अब, चिकित्सा–अनुवांशिकी ने अनेक प्रकार की बीमारियों की रोकथाम और इलाज और इस तरह बेहतर दवाईयों तथा लम्बे स्वस्थ्य जीवन की उम्मीद जगा दी है। ज्ञान के इस विशाल क्षेत्र में अभी बहुत काम होना बाकी है। यह विशेष रूप से अनुवांशिक जांच–पड़ताल (स्क्रीनिग) और जीन थैरेपी में अहम् भूमिका निभाता है। अतः अनुवांशिक नजरिए से स्वास्थ्य को मनुष्य की उस स्थिति के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो उसकी अनुवांशिक संरचना में गम्भीर दोष अथवा विक्षिप्तता का रूप लेने वाले लक्षणों के सदृश जीनों की गैर–मौजूदगी तथा गुणसूत्र केन्द्रक (कैरयोटाइप) में गुण सूत्र (क्रोमोसोम) पदार्थ की कुल मात्रा के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार के विपथन (ऐबेरेश्न) पर निर्भर करती है। अथवा सकारात्मक रूप में कहा जाए तो स्वास्थ्य, अनुवांशिक संरचना में सामान्य लक्षणों के सदृश जीनों की उपस्थिति तथा सामान्य गुण–सूत्र की उपस्थिति पर आधारित होता है।''

विश्व स्वास्थ्य संगठन ने जिस ''सामान्य स्वास्थ्य'' (पॉजिटिव हैल्थ) की वकालत की है उसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य अपनी अनुवांशिक विरासत की क्षमताओं, जहां तक सम्भव हो, पूरी तरह से अभिव्यक्त करने में सक्षम होना चाहिए। यह तभी सम्भव है, जब मनुष्य उसकी अनुवांशिक क्षमताओं को फेनोटिपिक (अनुवांशिक लक्षणों की पर्यावरण के साथ अन्तःक्रिया से उत्पन्न नजर आने वाले लक्षण) वास्तविकताओं में रुपान्तरित करने वाले पर्यावरण के साथ स्वस्थ्य सम्बन्ध या अच्छे सम्बन्ध बना कर रहे।

(ii) व्यावहारिक तथा सामाजिक–सांस्कृतिक परिस्थितियां:

''जीवन शैली'' शब्द अपेक्षाकृत एक विस्तृत अवधारणा है। आमतौर पर ''लोगों के रहन–सहन का तरीका'' व्यक्त करने के लिए इसका उपयोग किया जाता है। यह सभी प्रकार के सामाजिक मूल्य आचार–व्यवहार और कार्य–कलाप दर्शाता है। इसमें संस्कृति और व्यावहारिक पैटर्न तथा आजीवन व्यक्तिगत आदतों (जैसे कि धूम्रपान, शराब की लत) का मिश्रण होता है। ये वो आदतें हैं जो सामाजीकरण की प्रक्रिया से विकसित हुई हैं। व्यक्ति माता–पिता, हम-उम्र व्यक्तियों या सहकर्मियों, मित्रों तथा भाई–बहनों और विद्यालय एवं जन-सम्पर्क माध्यमों के जरिए सामाजिक सम्पर्क के द्वारा जीवन शैली के बारे में अपनी समझ बनाता है।

स्वास्थ्य के लिए जरुरी है कि स्वस्थ जीवन शैली को बढ़ावा दिया जाए। अनेक सबूतों से ऐसे संकेत मिले हैं कि स्वास्थ्य और जीवन शैली के बीच एक सह-सम्बन्ध है। विशेष रूप से विकसित देशों में, वर्तमान की बहुत सी स्वास्थ्य समस्याएं (जैसी कि कॉरोनेरी हार्ट डिसीज, मोटापा, फेफड़ों का कैंसर, नशे की लत) जीवन शैली में बदलाव से जुड़ी हैं। भारत जैसे विकासशील देशों में, जहां पारम्परिक जीवन–शैली अभी भी मौजूद है, बीमारी और मौत के जोखिम, साफ–सफाई (स्वच्छता), कुपोषण, व्यक्तिगत स्वच्छता (आरोग्यता), बुनियादी मानवीय आदतों, प्रथाओं और सांस्कृतिक पद्धति से जुड़े हैं) यह उल्लेखनीय है कि सभी जीवन शैलियां नुकसानदायक नहीं हैं।

(iii) पर्यावरण :

हिप्पोक्रेटस (पांचवी सदी के एक ग्रीक चिकित्सक का नाम) पहला चिकित्सक था जिसने बीमारी को पर्यावरण यानि, जलवायु, पानी, हवा आदि से जोड़ा था। कई सदियों के बाद पैटनकॉफर ने जर्मनी में बीमारी और पर्यावरण के सह–सम्बन्ध की अवधारणा को फिर से जीवन्त किया। पर्यावरण को ''आन्तरिक'' और ''बाह्य'' दो श्रेणियों में बांटा गया है। ''प्रत्येक घटक और अवयव, प्रत्येक टिश्यू, प्रत्येक अंग और अंग प्रणाली तथा शारीरिक तंत्र के अन्दर परस्पर तालमेल से इनके कार्यकरण को मनुष्य का आंतरिक पर्यावरण नाम दिया गया है। आन्तरिक पर्यावरण आन्तरिक औषधियों के कार्य क्षेत्र में आता है।

बाह्य पर्यावरण अथवा बृहद पर्यावरण में वे चीजें शामिल हैं, जिनके सम्पर्क में मनुष्य गर्भधारण के पश्चात् आता है। इसे ''वह सभी कुछ जो व्यक्ति के अन्दर निहित तंत्र व्यवस्था के लिए अजनबी हैं'' के रूप में परिभाषित किया गया है। इन्हें शारीरिक, जैविक और मनोवैज्ञानिक घटकों के नाम से विभाजित किया जा सकता है। इनमें से कोई भी एक अथवा सभी मनुष्य की बीमारी के प्रति इसकी अतिसंवेदनशीलता (ससेप्टेबिलिटी) को प्रभावित कर सकते हैं। कुछ मरक–विज्ञानी (ऐपिडेमियोलॉजिस्ट) ने व्यक्तिगत पर्यावरण को ''सूक्ष्म पर्यावरण'' (या घरेलू पर्यावरण) नाम दिया है। इसमें व्यक्ति विशेष का रहन–सहन और जीवन शैली अर्थात् खानपान की आदत, अन्य व्यक्तिगत आदतें (अर्थात् धूम्रपान अथवा मदिरापान) स्वापक या

नशीले पदार्थों का इस्तेमाल आदि शामिल है। पेशे से संबंधित पर्यावरण, सामाजार्थिक पर्यावरण तथा नैतिक पर्यावरण की चर्चा भी आम है।

यह एक पुख्ता तथ्य है कि पर्यावरण का इस माहौल में रहने वालों पर शारीरिक, मानसिक और सामाजिक तन्दुरूस्ती पर सीधा प्रभाव पड़ता है। इन पर्यावरणीय कारकों में आवास, जलापूर्ति, मानसिक तनाव, और पारिवारिक ढांचे से लेकर सामाजिक तथा आर्थिक सहयोग प्रणाली और समुदाय के स्वास्थ्य संगठनों तथा समाज–कल्याण सेवाओं तक सभी कुछ शामिल है। पर्यावरणीय घटक (शारीरिक, जैविक और मनोवैज्ञानिक) पूरी तरह से अलग–अलग घटक नहीं हैं। ये एक–दूसरे से अटूट रूप से जुड़े हैं, वास्तविक हैं और मानवीय पर्यावरण को समग्र नजरिए से देखने में उपयोगी हैं, बशर्ते कि हम पर्यावरण का जनसमुदाय के स्वास्थ्य पर पड़ने वाले प्रभाव को गहराई से समझें। यदि पर्यावरण व्यक्ति के अनुकूल है तो वह अपनी शारीरिक और मानसिक क्षमताओं का पूरा उपयोग कर सकता है। आज दुनियां में, परिवार और पर्यावरणीय स्वास्थ्य को बढ़ावा देना और इनका संरक्षण करना एक अहम मुद्दा है।

(iv) सामाजार्थिक परिस्थितियांः

यह बहुत पहले से ज्ञात है कि सामाजार्थिक परिस्थितियां मानव स्वास्थ्य को प्रभावित करती हैं। विश्व के अधिकतर लोगों का स्वास्थ्य–स्तर मुख्यतया उनके सामाजार्थिक विकास अर्थात् प्रति व्यक्ति सकल राष्ट्रीय उत्पाद, शिक्षा, पोषक आहार, रोजगार, आवास, देश की राजनीतिक प्रणाली आदि पर निर्भर करता है। इनमें से कुछ प्रमुख इस प्रकार हैंः

(क) **आर्थिक स्तर :** सामान्य अर्थ व्यवस्था किस प्रकार काम कर रही है इसका सर्वाधिक मान्य पैमाना प्रति व्यक्ति, जी एन पी (सकल राष्ट्रीय उत्पाद) है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि अधिकांश विकासशील देशों में, रुग्णता दर में कमी लाने, उत्तरजीविता बढ़ाने और जीवन स्तर उन्नत बनाने में आर्थिक प्रगति ने प्रमुख भूमिका निभाई है। आर्थिक स्तर, समुदाय में, खरीद शक्ति, जीवन स्तर, जीवन की गुणवत्ता, परिवार का आकार और बीमारियों का पैटर्न तथा दुराचारी व्यवहार का निर्धारण करता है। यह स्वास्थ्य सेवाएं प्राप्त करने में भी अहम भूमिका निभाता है। लेकिन विडम्बना यह है कि समृद्धि भी बीमारी का कारण बन सकती है। इसका उदाहरण समाज के समृद्ध समूह में कॉरोनरी हृदय–रोगों, डायबिटीज और मोटापा जैसे रोगों की उच्च दर है।

(ख) **शिक्षा :** स्वास्थ्य को प्रभावित करने वाला दूसरा बड़ा कारक शिक्षा (विशेषकर महिला शिक्षा) है। विश्व में निरक्षता दर का गरीबी, कुपोषण, खराब स्वास्थ्य, शिशु एवं बाल मृत्यु दर से गहरा नाता है।

अध्ययनों से पता चला है कि स्वास्थ्य सुविधाओं की उपलब्धता की स्थिति कैसी भी हो, गरीबी के कारण स्वास्थ्य पर पड़ने वाले प्रभाव को शिक्षा कुछ हद तक कम कर देती है। भारत का छोटा सा राज्य केरल, इसका ज्वलंत उदाहरण है। वर्ष 2012 में जहां पूरे भारत की शिशु मृत्यु दर 42 थी, वही इसकी तुलना में केरल में यह दर मात्र 12 थी। केरल में शिशु मृत्यु दर के कम होने का मुख्य कारण यहां महिला साक्षरता दर 91.98 प्रतिशत होना है जबकि पूरे भारत की समग्र महिला साक्षरता दर 65.46 प्रतिशत है।

(ग) **पेशा या व्यवसाय :** किसी उत्पादक कार्य में नियोजन स्वस्थ जीवन में सहायक होता है। आमतौर पर बेरोजगारों में बीमारी और मृत्यु की घटनाएं ज्यादा देखी गई हैं। कई लोगों के लिए, नौकरी जाने का मतलब आय और दर्जे की हानि हो सकती है और यह मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक क्षति का कारण बन सकता है।

(घ) **राजनीतिक व्यवस्था :** स्वास्थ्य देश की राजनीतिक व्यवस्था से भी जुड़ा है। बहुधा, स्वास्थ्य से संबंधित प्रौद्योगिकियों को लागू करने में तकनीकी कारण की बजाय राजनीतिक फैसले ज्यादा बाधक होते हैं। संसाधनों के आबंटन, श्रम शक्ति से संबंधित नीति, प्रौद्योगिकी के चयन और समाज के विभिन्न वर्गों के लिए स्वास्थ्य सेवाओं की उपलब्धता और अभिगम्यता का स्तर आदि इस बात का उदाहरण है कि राजनीतिक व्यवस्था किस प्रकार स्वास्थ्य सेवाओं का स्वरूप ढाल सकती है। स्वास्थ्य पर खर्च किया जाने वाला जीएनपी का प्रतिशत राजनीतिक कटिबद्धता का मात्रात्मक परिचायक है। विश्व स्वास्थ्य संगठन ने स्वास्थ्य देखभाल पर प्रत्येक देश के जीएनपी का कम से कम 5 प्रतिशत लक्ष्य तय किया है। लेकिन, भारत स्वास्थ्य और परिवार कल्याण पर अपने जीएनपी का लगभग 2 प्रतिशत व्यय करता है। आवश्यकता है राजनीतिक कटिबद्धता की और ऐसे नेतृत्व की जो केवल आर्थिक विकास की तरफ ही नहीं बल्कि सामाजिक विकास की तरफ भी ध्यान देती हो। यदि स्वास्थ्य के खराब पैटर्न को बदलना है तो समुदाय विशेष की समग्र सामाजिक राजनैतिक व्यवस्था में बदलाव लाना होगा। लोगों के कार्यकरण तथा रहन–सहन के पर्यावरण में स्वास्थ्य के लिए हानिकारक कारकों को मिटाना होगा।

(v) स्वास्थ्य सेवाएंः

स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण शब्द का दायरा बहुत व्यापक है इसमें बीमारियों के ईलाज, बीमारियों की रोकथाम, स्वास्थ्य संवर्धन के लिए व्यक्तिगत और सामुदायिक सेवाओं का एक विशाल क्षेत्र शामिल है। स्वास्थ्य सेवाओं का उद्देश्य जन–समुदाय के स्वास्थ्य स्तर में सुधार लाना है। उदाहरण के लिए बच्चों का टीकाकरण (प्रतिरक्षण) खास बीमारियों के होने/फैलने को रोक सकता है। स्वच्छ जल की उपलब्धता जल–जनित (पानी से होने वाली) बीमारियों के कारण मौतों और रुग्णता को रोक सकती है। गर्भवती

महिलाओं और शिशुओं की देखभाल मातृक (मैटर्नल) और शिशु रुग्णता तथा मृत्यु दर में कमी लाने में सहायक हो सकती है। स्वास्थ्य सेवाएं तभी कारगर होंगी, जब ये सेवाएं समाज के अंतिम छोर तक पहुंचे, समान रूप से इनका वितरण हो, लागत के तौर पर देश और समुदाय की पहुंच मे हो और सामाजिक तौर पर स्वीकार्य हों। स्वास्थ्य सेवाएं जिसे अब ''प्राथमिक स्वास्थ्य देखभाल'' नाम से जाना जाता है, के घटकों में उपरोक्त सभी शामिल हैं। स्वास्थ्य सेवाओं को बेहतर स्वास्थ्य के एक साधन के रूप में माना जाए। स्वास्थ्य सेवाओं को सामाजिक और आर्थिक विकास के लिए भी आवश्यक माना जाए। पर हमें यह ध्यान रखना होगा कि ''बेहतर देखभाल से अच्छा स्वास्थ्य नहीं बनता।'' हालांकि, जीएनपी और जन्म के समय उत्तरजीविता के बीच एक मजबूत सह–सम्बन्ध है, लेकिन चिकित्सा सुविधाओं की बहुलता और जन्म के समय उत्तरजीविता के बीच कोई उल्लेखनीय सह–सम्बन्ध नहीं है।

कारगर स्वास्थ्य सेवाओं से ज्यादा से ज्यादा हम केवल अच्छी देखभाल की उम्मीद कर सकते हैं। मरक विज्ञान (ऐपिडेमियोलॉजि) की अवधारणा कहती है कि स्वास्थ्य सेवाएं, तकनीकी रूप से चाहे कितनी भी परिष्कृत अथवा किफायती क्यों न हों, जब वे स्वास्थ्य उन्नत बनाएंगी तभी वे प्रासंगिक कहलाएंगी।

(vi) अन्य कारक :

हम औद्येगिक क्रान्ति के बाद के युग से सूचना के युग से गुजर रहे हैं और सूचना तथा संचार के क्षेत्र में दो परस्पर जुड़ी क्रान्ति के शुरुआती दिनों का अनुभव ले रहे हैं। एक समय था, चिकित्सा के बारे में जानकारी प्राप्त करना आसान नही था, किन्तु इन प्रौद्योगिकियों में विकास के चलते चिकित्सा के क्षेत्र में तत्काल जानकारी उपलब्ध कराना बहुत आसान हो गया है। विश्व भर में जानकारी के आदान–प्रदान में इनका योगदान अभूतपूर्व है। ये प्रौद्योगिकियां अनेक चिकित्सकों, स्वास्थ्य पेशेवरों, जैव–चिकित्सा वैज्ञानियों और शोधकर्ताओं, जन सम्पर्क माध्यमों (मीडिया) और सर्व–साधारण की जरूरतों को पूरा कर रही हैं। औपचारिक स्वास्थ्य देखभाल सेवा प्रणाली तथा अन्य कई प्रणालियां भी जनसमुदाय के स्वास्थ्य में सहयोग दे रही हैं, इनमें खाद्य और कृषि, शिक्षा, उद्योग, सामाजिक कल्याण, गामीण विकास के अलावा आर्थिक और सामाजिक नीतियां जो जीवन स्तर को उन्नत बनाने में मदद देंगी, शामिल हैं। इनमें रोजगार के अवसर, बेहतर पारिश्रमिक, प्री–पेड चिकित्सा कार्यक्रम ओर पारिवारिक सहयोग प्रणालियां भी शामिल हैं। संक्षेप में, केवल औषधि को ही जन–समुदाय के स्वास्थ्य और खुशहाली का श्रेय नहीं दिया जा सकता। जन–साधारण के स्वास्थ्य में बेहतरी के अन्य सभी क्षेत्रों के परस्पर योगदान की क्षमता को भी अब ज्यादा स्वीकार्य या मान्य समझा जा रहा है।

स्वास्थ्य संवर्धन संबंधी उद्घोषणाः

विश्व स्वास्थ्य संगठन के जुलाई 1997 में आयोजित सम्मेलन की इस उद्घोषणा में, 21वीं शताब्दी में स्वास्थ्य संवर्धन के ध्येय और लक्ष्य की तस्वीर पेश की गई थी। इसमें माना गया है कि स्वास्थ्य के

निर्धारक, 21वी शताब्दी में नई चुनौतियां, स्वास्थ्य के लिए मूलभूत परिस्थितियां और संसाधन, शांति, आश्रय (आवास), शिक्षा, सामाजिक सुरक्षा, सामाजिक संबंध, खाद्य, आय, महिला सशक्तिकरण, स्थायी पारिस्थितिकी, संसाधनों का विवेकपूर्ण उपयोग, सामाजिक न्याय, मानव अधिकारों का सम्मान और समानता को शामिल किया गया है। कुल मिलाकर यही कहा गया है कि स्वास्थ्य को सबसे ज्यादा खतरा गरीबी से है।

शहरीकरण, वृद्ध लोगों की जनसंख्या में वृद्धि, पुरानी बीमारियों की बहुत अधिक व्याप्तता जैसे आबादी संबंधी रूझान सभी देशों के लिए नई समस्याएं खड़ी कर रहे हैं। बढ़ती आराम–तलबी, एन्टीबॉयोटिक तथा अन्य आम औषधियों का निष्प्रभावी होना, स्वापक औषधियों और नशीले पदार्थों (ड्रग) का अधिक उपयोग अर्थात् नशे की लत एवं नागरिक एवं घरेलू हिंसा जैसे अन्य सामाजिक, व्यवहार लाखों–करोड़ों लोगों के स्वास्थ्य और खुशहाली के लिए खतरा बन रहे हैं। नई और फिर से उभरती संक्रामक बीमारियां तथा मानसिक स्वास्थ्य से जुड़ी समस्याओं में वृद्धि पर तत्काल कदम उठाने की आवश्यकता है। यह महत्वपूर्ण है कि स्वास्थ्य संवर्धन से जुड़े जरियों को इस तरह विकसित किया जाए कि वे स्वास्थ्य के निर्धारकों में निहित चुनौतियों का सामना कर सकें। स्वास्थ्य के लिए उभरते खतरों से निपटने के लिए विभिन्न क्षेत्रों, स्थानीय समुदायों और परिवार के अन्दर अन्तर्निहित क्षमताओं को आगामी वर्षों में उभारना होगा।

ओटावा चार्टर में स्वास्थ्य संवर्धन में कार्रवाई के पांच प्रमुख क्षेत्रों को शामिल किया गया है। ये क्षेत्र हैं–

क) स्वस्थ सामाजिक नीति बनाएं।

ख) स्वास्थ्य के अनुकूल वातावरण का निर्माण करें।

ग) स्वास्थ्य के लिए सामुदायिक प्रयासों को मजबूत बनाएं।

घ) व्यक्तिगत कौशल का विकास करें, और

ङ) स्वास्थ्य सेवाओं का पुनः विन्यास (री-ओरिएण्ट) करें।

(क) स्वस्थ सामाजिक नीति बनाएं : स्वास्थ्य संवर्धन का दायरा स्वास्थ्य देखभाल से ज्यादा हैं। यह सभी सैक्टरों और सभी स्तरों के नीति–निर्माताओं के एजेन्डा (कार्यवृत्त) में स्वास्थ्य को शामिल करता है, उन्हें निर्देश देता है कि वे अपने फैसलों के स्वास्थ्य संबंधी परिणामों के प्रति सचेत रहे और स्वास्थ्य के प्रति अपना दायित्व स्वीकार करें।

(ख) स्वास्थ्य के अनुकूल वातावरण का निर्माण करें : विशेषकर प्रौद्योगिकी, कार्य, ऊर्जा उत्पादन और शहरीकरण के क्षेत्रों में तेजी से बदलते माहौल का स्वास्थ्य पर पड़ने वाले प्रभाव का व्यवस्थित आकलन अत्यावश्यक है और इस आकलन के बाद ऐसे कदम उठाए जाएं जो लोगों के स्वास्थ्य के लिए लाभदायक

हों। स्वास्थ्य–संवर्धन से जुड़ी किसी भी कार्यनीति में प्राकृतिक और मानव निर्मित वातावरण तथा प्राकृतिक संसाधनों का संरक्षण अवश्य सुनिश्चित किया जाए।

(ग) स्वास्थ्य के लिए सामुदायिक प्रयासों को मजबूत बनाएं : स्वास्थ्य संवर्धन प्राथमिकताएं तय करने, फैसले लेने, नियोजन संबंधी कार्यनीतियां बनाने और इन्हें लागू करने में कारगर और ठोस सामुदायिक प्रयासों के जरिए कार्य करता है ताकि बेहतर स्वास्थ्य का लक्ष्य हासिल किया जा सके। इस प्रक्रिया का मुख्य उद्देश्य सामुदायिक सशक्तिकरण है।

बहुत पहले चिकित्सा से जुड़े इतिहासकार, **हैनरी सिगेरिस्ट** ने कहा था कि ''लोगों का स्वास्थ्य लोगों की ही चिन्ता का विषय होना चाहिए। उन्हें इसके लिए संघर्ष करना चाहिए और योजना बनानी चाहिए। बीमारी के खिलाफ और स्वास्थ्य के लिए युद्ध केवल चिकित्सक ही नहीं लड़ेंगे। यह आम–जन का युद्ध है, इसमें पूरे जन–समुदाय को लामबंद किया जाना चाहिए।''

3.राज्य का दायित्व :

स्वास्थ्य की जिम्मेदारी केवल व्यक्तिगत और सामुदायिक प्रयासों तक ही सीमित नहीं है। सभी सभ्य समाजों में राज्य अपने नागरिकों की खुशहाली और स्वास्थ्य का दायित्व अपने ऊपर लेता है। भारत के संविधान में प्रावधान है कि स्वास्थ्य राज्य का दायित्व है। इससे संबंधित अंश राज्य नीति दिशा–निर्देशक सिद्धान्तों में देखे जा सकते है, जो इस प्रकार हैं–

''राज्य विशेषकर यह सुनिश्चित करने की दिशा में नीतियां बनाएगा– कि ''श्रमिकों, पुरुष एवं महिलाओं के स्वास्थ्य और क्षमता तथा बच्चों की नाजुक उम्र का दुरुपयोग न हो और नागरिक आर्थिक आवश्यकताओं के कारण मजबूर होकर ऐसे व्यवसाय जो उनकी आयु अथवा क्षमता के अनुकूल न हों, में न जाएं और बचपन तथा किशोरावस्था का शोषण और नैतिक तथा दैहिक अपसर्जन न हो। राज्य अपनी आर्थिक और विकासात्मक क्षमता की सीमाओं के अन्दर, कार्य और शिक्षा का अधिकार तथा बेरोजगारी, वृद्धावस्था, बीमारी और विकलांगता तथा मातृत्व राहत के मामलों एवं अनर्जित अभावों के मामले में लोक सहायता का अधिकार सुनिश्चित करने का कारगर प्रावधान करेगा। राज्य कार्य तथा मातृत्व राहत के लिए न्यायोचित और मानवीय परिस्थितियां उपलब्ध कराने का प्रावधान करेगा। राज्य अपने नागरिकों का पोषण स्तर तथा जीवन स्तर ऊंचा बनाने एवं नागरिकों के स्वास्थ्य में सुधार को अपने प्राथमिक कर्तव्यों में शामिल करेगा।''

–भारत का संविधान, भाग–4

भारत ने 1978 अल्मा–अटा उद्घोषणा तथा 2000 के सहस्त्राब्दि विकास लक्ष्यों पर हस्ताक्षर किए हैं संसद द्वारा 1983 में, तथा 2002 में एवं 2017 में अनुमोदित राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति के परिणाम स्वरूप

स्वास्थ्य देखभाल को महत्व देते हुए स्वास्थ्य सेवाओं का राष्ट्र–व्यापी तंत्र स्थापित करने में राज्य की सहभागिता और ज्यादा बढ़ी है।

4.अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वः

मानव जाति के स्वास्थ्य से सम्बन्धित लक्ष्यों को हासिल करने के लिए सभी सरकारों, जन समुदायों तथा संयुक्त राष्ट्र के अन्तर्गत तथा इससे बाहर के सभी संगठनों का सहयोग अपेक्षित होगा। इस सहयोग में विशेषज्ञों का आदान–प्रदान, औषधियों की उपलब्धता और आपूर्ति, संचारी रोगों पर नियंत्रण के लिए क्षेत्रीय बैठकें जैसे विषय शामिल हैं। टीसीडीसी (विकासशील देशों में तकनीकी सहयोग, आसियान (दक्षिण–पूर्व एशियाई देशों का संगठन) और एसएमआरपी (दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग संगठन) ऐसे ही महत्वपूर्ण क्षेत्रीय सहयोग तंत्र हैं। स्वास्थ्य संवर्धन और बीमारियों के नियंत्रण के क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व के उदाहरण के तौर पर चेचक नियंत्रण, ''सभी के लिए स्वास्थ्य'' परियोजना तथा धूम्रपान और एड्स के खिलाफ अभियान आदि का उल्लेख किया जा सकता है। आज, स्वास्थ्य सेवाओं के वितरण में स्वास्थ्य तथा ''सामाजिक न्याय'' से जुड़े मामलों पर अन्तर्राष्ट्रीय समझ–बूझ और ज्यादा व्यापक हुई है। स्वास्थ्य के क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग कायम करने में विश्व स्वास्थ्य संगठन ने प्रमुख भूमिका निभाई है। अपने संवैधानिक अधिदेश के तहत, विश्व स्वास्थ्य संगठन, स्वास्थ्य से जुड़े अन्तर्राष्ट्रीय कार्यों में निदेशक और समन्वयक प्राधिकरण की भूमिका निभाता है।

2.5: स्वास्थ्य और विकास

इस तथ्य का अब सभी स्वीकार करने लगे हैं कि ''सामाजार्थिक विकास के लिए स्वास्थ्य अत्यावश्यक है।'' 1960 के दशक में यह आम धारण थी कि विकासशील देशों में लोगों के स्वास्थ्य–स्तर में सुधार के लिए सामाजार्थिक विकास जरुरी नहीं है और जन–स्वास्थ्य के आधुनिक साधन मात्र से ही तेजी से पर्याप्त प्रगति हासिल की जा सकती है। इस प्रकार की सोच में, विकास प्रक्रिया में मनुष्य की भूमिका को बहुत कम करके आंका गया था। 1973–77 की अवधि के दौरान इस धारणा पर पुनः गहराई से विचार किया गया। आर्थिक सिद्धान्त में बहुत से बदलाव किए गए। यह स्पष्ट होता गया कि केवल आर्थिक विकास से ही गरीबी, भुखमरी, कुपोषण और बीमारी जैसी समस्याओं का समाधान नहीं किया जा सकता। इसके स्थान पर ''गैर आर्थिक'' मुद्दे (यानि शिक्षा, उत्पादक रोजगार, आवास, समानता, स्वतंत्रता और सम्मान, मानव कल्याण) विकासात्मक कार्य नीतियों में प्रमुख उद्देश्यों के रूप में उभरे।

कुछ विकासशील देशों (श्रीलंका, कोस्टारिका और भारत में केरल राज्य) ने आश्चर्यजनक तरीके से यह प्रदर्शित किया कि स्वास्थ्य विकास का एक भाग है। स्वास्थ्य के क्षेत्र में किए जा रहे प्रयासों को शिक्षा,

सामाजिक कल्याण और भूमि–सुधार जैसे अन्य क्षेत्रों में विकास के जरिए मजबूती प्रदान करके यह उपलब्धि हासिल की जा सकी। स्वास्थ्य और विकास के बीच सम्बन्ध को स्पष्टतया स्थापित किया जा चुका है, दोनों ही एक–दूसरे के प्रारम्भ बिन्दु हैं। चूंकि स्वास्थ्य विकास का अभिन्न अंग हैं, इसलिए समाज के सभी क्षेत्रों का स्वास्थ्य पर प्रभाव पड़ता है। दूसरे शब्दों में, अब स्वास्थ्य सेवाओं को केवल चिकित्सा उपायों के एक समूह मात्र के रूप में नहीं माना जाता बल्कि इसे समग्र सामाजार्थिक प्रणाली के एक उपांग के रूप में समझा जाता है। अंतिम निष्कर्ष यही है कि मानव स्वास्थ्य और खुशहाली विकास के अन्तिम लक्ष्य हैं।

केरल राज्य से सीख

केरल भारत के दक्षिणी छोर पर स्थिति एक राज्य है, जिसकी आबादी तीन करोड़ तैंतीस लाख साठ हजार और जनसंख्या घनत्व 858 व्यक्ति प्रति वर्ग किमी. है। केरल राज्य बहुत ही घना शायद बंगलादेश से भी ज्यादा घना बसा हुआ है। इसकी प्रति व्यक्ति वार्षिक आय 83,725/– रू. (2011–12) है जो 60,603/– रू. के राष्ट्रीय औसत से अधिक है। केरल ने स्वास्थ्य और सामाजिक विकास के कतिपय महत्वपूर्ण उपायों के मामले में सभी भारतीय राज्यों को पीछे छोड़ दिया है। इसे निम्नलिखित तालिका में दिखाया गया है–

तालिका: केरल और अखिल भारतीय स्वास्थ्य सांख्यिकी की तुलना

	केरल	अखिल भारतीय
मृत्यु दर/1000 (2012)	6.9	7.0
ग्रामीण जन्म दर (2012)	15.1	23.1
शिशु मृत्यु दर (2012)	12.0	42.0
वार्षिक वृद्धि दर, प्रतिशत (2012)	0.8	1.45
जन्म के समय उत्तरजीविता (2011–15) (अनुमान) पुरुष	73.2	67.3
महिला	77.6	69.1
साक्षरता दर, प्रतिशत (2011)	90.92	74.04
महिला साक्षरता दर (2011)	91.98	65.46
विवाह के समय औसत आयु, महिला (2012)	22.9	21.2

प्रति व्यक्ति आय (2011–12)	83,725 रू.	60,603 रू.

समता–मूलक सामाजार्थिक विकास की दिशा में मजबूत राजनीतिक कटिबद्धता के साथ, आय के सामान्य स्तर से भी स्वास्थ्य का स्तर हासिल किया जा सकता है। इसलिए देश में स्वास्थ्य के स्तर का अनुमान लगाने के लिए केरल को एक पैमाना माना जा सकता है।

अध्ययनों से पता चला है कि स्वास्थ्य के क्षेत्र में प्रयासों को अन्य क्षेत्रों में विकास के द्वारा साथ–साथ मजबूती प्रदान की गई थी। साक्षरता (विशेषकर महिला साक्षरता) ने स्वास्थ्य स्थिति में सुधार लाने में अहम भूमिका निभाई है। स्वास्थ्य सुविधाओं के अधिकाधिक उपयोग का श्रेय साक्षरता को दिया जा सकता है। समाज कल्याण के लिए चलाए गए दीर्घकालिक कार्यक्रमों ने न केवल शिक्षा का स्तर उठाया, बल्कि सामाजिक बुनियादी ढांचे के साथ–साथ परिवहन तंत्र का भी विकास किया, जिससे सेवाओं तक पहुंच आसान बनी। भूमि सुधारों से गरीब लोगों को परिवार स्तर पर खाद्यान्न उत्पादन के लिए भू–संसाधन उपलब्ध कराए। केरल ने यह सिद्ध किया है कि गरीब राज्य कम लागत पर अच्छा स्वास्थ्य प्राप्त कर सकते हैं लेकिन इसके लिए दृढ राजनीतिक और सामाजिक प्रतिबद्धता जरुरी है।

2.6: स्वास्थ्य विकास

स्वास्थ्य विकास को ''जन समुदाय के स्वास्थ्य स्तर में सतत् प्रगामी सुधार की प्रक्रिया'' के रूप में परिभाषित किया गया है। मानव खुशहाली का बढ़ता स्तर इसका प्रतिफल कहलाता है, केवल बीमारी के बोझ में कमी से ही नहीं, बल्कि संतोषजनक आर्थिक कार्यकलाप और सामाजिक एकीकरण के लिए आवश्यक सामान्य शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य की प्राप्ति से भी इसकी पहचान होती है।

चिकित्सा देखभाल के प्रावधान से पृथक स्वास्थ्य विकास की अवधारणा, हालिया वर्षों की राजनीतिक सोच का परिणाम है। यह इस मूलभूत सिद्धान्त पर आधरित है कि अपने लोगों के स्वास्थ्य का जिम्मा सरकार पर है और साथ ही लोगों का भी यह अधिकार और कर्तव्य होना चाहिए कि वे व्यक्तिगत रूप से और सामूहिक रूप से अपने स्वयं के स्वास्थ्य के विकास में सहभागी बनें। स्वास्थ्य सामाजिक और आर्थिक विकास का परिणाम भी है और इस विकास में योगदानकर्ता भी है। इसलिए संयुक्त राष्ट्र व्यवस्था ने अपने कार्यक्रमों और नीतियों में स्वास्थ्य विकास पर निरन्तर जोर दिया है। इसके लिए विश्व बैंक का एक उदाहरण दिया जा सकता है। बैंक आर्थिक विकास से संबंधित कार्यक्रमों के स्वास्थ्य से जुड़े घटक के लिए निधियां उपलब्ध करा रहा है। संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम (यूएनडीपी) भी विश्व बैंक की तरह स्वास्थ्य विकास में बढ़–चढ़ कर रुचि ले रहा है।

2.7 सारांश

इकाई के अध्ययन के उपरान्त–

1. आप स्वास्थ्य के विभिन्न प्रकार व माडलों की अवधारणा के बारे में स्पष्ट हो चुके हैं।
2. स्वास्थ्य के निर्धारित वेरियेबल्स व सामाजिक व आर्थिक कारकों के बारे में परिचित हो चुके हैं।
3. इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप स्वास्थ्य व विकास के बीच परस्पर सम्बन्धों को पहचान चुके हैं।
4. साथ ही आप स्वास्थ्य विकास की अवधारणा के बारे में स्पष्ट हो चुके हैं।

2.8 शब्दावली

स्वास्थ्य के प्रतिमान (Health Models) : स्वास्थ्य विभिन्न प्रतिमानों में जैव चिकित्सा प्रतिमान (मॉडल) की शानदार सफलता से चिकित्सा प्रौद्योगिकी के द्वारा मनुष्य के स्वास्थ्य से जुड़ी कुछ प्रमुख समस्याओं जैसे– कुपोषण, दुर्घटना, नशे की लत, मानसिक रोग, पर्यावरणीय प्रदूषण, पुरानी बीमारियां तथा जनसंख्या विस्फोट इत्यादि का निदान नहीं हो पाया है। अतः स्वास्थ्य की निरन्तरता हेतु अन्य प्रतिमानों (मॉडल्स) जैसे– पर्यावरण मॉडल (पारिस्थिकीय), मनोवैज्ञानिक मॉडल तथा होलिस्टिक मॉडल पर भी ध्यान गया है। क्योंकि स्वास्थ्य जैविक तथा सामाजिक तथ्य दोनों का ही विषय हैं।

होलिस्टिक (Holistic) : साकल्यवादी (होलिस्टिक) प्रतिमान सभी अवधारणाओं का मिला–जुला रूप है। यह स्वास्थ्य पर सामाजिक, राजनीतिक और पर्यावरणीय प्रभाव को स्वीकार करता है। इसमें अलग–अलग तरीके से स्वास्थ्य को परिभाषित करने का प्रयास किया गया है। साकल्यवादी विचारधारा कहती है कि समाज के सभी क्षेत्र, विशेषकर कृषि, पशुपालन, खाद्यान्न, उद्योग, शिक्षा, आवास, लोक कार्य, संचार आदि स्वास्थ्य पर अपना प्रभाव डालते हैं। इसमें स्वास्थ्य संवंर्धन और सरंक्षण पर जोर दिया गया है।

2.9 अभ्यास प्रश्न

1. आर. डुबास की पुस्तक का नाम क्या है?
   (अ) मैन एडेब्टिंग (ब) टूवार्ड्स ए न्यू डैफिनेशन ऑफ हैल्थ
   (स) सोसियोलॉजी ऑफ हैल्थ (द) हैल्थ फार आल
2. स्वास्थ्य के प्रमुख प्रतिमान हैं?
   (अ) 3 (ब) 5 (स) 4 (द) 6
3. स्वास्थ्य संवर्द्धन के ओटावा चार्टर में कितने क्षेत्रों को शामिल किया गया है?
   (अ) 7 (ब) 5 (स) 6 (द) 4
4. केरल राज्य में प्रति व्यक्ति आय है–
   (अ) 60,603/– (ब) 55,290/– (स) 83,725/– (द) 1 लाख से अधिक

अभ्यास प्रश्नों के उत्तर:

1. (अ) 2. (स) 3. (ब) 4. (स)

2.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची

7. डुबोस, आर. (1965), मैन एडैप्टिंग, न्यू हैवेन, येले यूनी. प्रेस
8. डुबोस, आर. (1969), डब्लूएचओ क्रोनिकल, 23:499
9. डोनाल्ड, सी.ए. एट एल (1978), सोसल हैल्थ, इनः कॉन्सैप्चुलाइजेशन एण्ड मेजरमेंन्ट ऑफ हैल्थ फार एडल्ट्स इन द हैल्थ इन्श्यूरेन्स स्टडी, सान्ता मोनिका, सीए, रैन्ड कार्पोरेशन
10. जुकानोविच, वी एण्ड माच इ पी (1975), अल्टरनेटिव एप्रोचेज टू मीटिंग बेसिक हैल्थ नीड्स इन डवलपिंग कन्ट्रीज, ए ज्वाइंट यूनीसेफ/डब्लूएचओ स्टडी
11. नागपाल, आर. एण्ड सैल, एच. (1985), सब्जैक्टिव वैलबिइंग, रैगुलर हैल्थ पेपर नं. 7 डब्लूएचओ– सियरो, नई दिल्ली
12- के. पार्क (2015), पार्क'स टैक्स्ट बुक ऑफ सोशियल एण्ड प्रीवेन्टिव मेडीसिन 23 एडीशन, बनारसी दास भनोट पब्लिशर्स .

2.11सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

9. अहमद, एण्ड कोल्हो (1979), टू वर्ड्स ए न्यू डैफिनेशन ऑफ हैल्थ, प्लेयूम, एन वाई
10. बनर्जी (1985), हैल्थ एण्ड फैमिली प्लानिंग सर्विस इन इंडिया, लोकपक्ष, नई दिल्ली
11. आईसीएसएसआर एण्ड आईसीएमआर (1981), हैल्थ फार आल, ऐन अल्टरनेटिव स्ट्रटेजी, वोलन्ट्री हैल्थ एसासिशयन ऑफ इंडिया, नई दिल्ली
12. टवॉड्ल, ए सी एण्ड हैसलर, आर एम (1977), सोसियोलॉजी ऑफ हैल्थ, सैन्ट लुइस, मोसबी
13. लास्ट, जे एम (1983), ए डिकसनरी ऑफ इपिडिमीयोलॉजी, ऑक्सफोर्ड यूनीर्सिटी प्रेस
14- रेटक्लिफ, जॉन (1984), इनः प्रैक्टिसिंग हैल्थ ऑफ ऑल, डेविड मोरले, एट एल (एडि), ऑक्सफोर्ड यूनिर्सिटी प्रेस
15- मोरिस, डी एन एण्ड निचेल, वी एस (1982), मिजरिंग द कंडीशन ऑफ इंडियाज पुअर्स, पीक्यूएलआई, प्रोमिला एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली
16. नोबल, जॉन (1976), प्राइमरी केयर एण्ड प्रैक्टिस ऑफ मेडिसिन, लिटिल ब्राउन, बोस्टन

2.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. स्वास्थ्य के प्रकार व प्रतिमान (मॉडल्स) पर एक निबन्ध लिखिए?
2. स्वास्थ्य के प्रमुख निर्धारकों को स्पष्ट कीजिए?
3. स्वास्थ्य के सामाजिक व आर्थिक निर्धारकों को विस्तार पूर्वक बतायें?
4. स्वास्थ्य सम्बन्धी उद्घोषणा के प्रमुख अवययों को स्पष्ट करें?
5. स्वास्थ्य और विकास के पारस्पिक सम्बन्ध तथा स्वास्थ्य विकास के प्रमुख पहलुओं का वर्णन करिये?

इकाई 3: स्वास्थ्य को प्रभावित करने वाले कारक : सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक
(Factors Affecting Health: Social, Economical and Cultural)

इकाई की रूपरेखा (Outline of Unit)

3.1 उद्देश्य

3.2 प्रस्तावना

3.3 सामाजार्थिक और सांस्कृतिक वेरिएबल्स का स्वास्थ्य पर प्रभाव

(i) सामाजार्थिक स्तर और स्वास्थ्य

(ii) शैक्षिक स्तर

(iii) आय

(iv) पेशागत या व्यवसायगत स्तर

(v) सामाजिक नेटवर्क, सामाजिक सहयोग और स्वास्थ्य

(vi) कार्य का मनोवैज्ञानिक माहौल और स्वास्थ्य

(vii) असामाजिक माहौल (पर्यावरण) द्वारा प्रभावित स्वास्थ्य के पहलू

3.4 सारांश

3.5 शब्दावली

3.6 अभ्यास प्रश्न

3.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची

3.8 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

3.9 निबंधात्मक प्रश्न

3.1 उद्देश्य

स्वास्थ्य के बारे में आधिकारिक आंकड़े जुटाने और इन्हें संरक्षित रखने का कार्य जब से शुरू हुआ है, उससे पहले भी सामाजिक–आर्थिक स्तर (एसईएस) और गरीबी जैसे कुछ सामाजिक परिवर्ती (वेरिएबल्स) और स्वास्थ्य के बीच एक सह–सम्बन्ध था, ऐसे ठोस सबूत हैं। पिछले 30 वर्षों के दौरान सामाजिक नेटवर्क और सामाजिक सहयोग अथवा व्यवसाय या कार्य-जनित तनाव जैसे अन्य वेरिएबल्स का स्वास्थ्य के साथ सम्बन्ध के बारे में अनेक सबूत जुटाए जा चुके हैं।

इस इकाई का उद्देश्य उन सामाजिक वेरिएबल्स के बारे में जानकारी उपलब्ध कराना है, जिन पर स्वास्थ्य में इनके योगदान (इनपुट) के नजरिए से शोध किया जा चुका है। और साथ ही इन वेरिएबल्स को मापने के तरीकों तथा स्वास्थ्य सम्बन्धी निष्कर्षों से प्रत्येक वैरिएबल को जोड़ने वाले अनुभवजन्य सबूतों को समझाना है।

3.2 प्रस्तावना

स्वास्थ्य के सामाजिक निर्धारक आजीवन अनेक स्तरों पर स्वास्थ्य को प्रभावित करते हैं। उदाहरण के तौर पर गरीबी को ही लीजिए। यह एक ऐसा अनुभव है जो परिवारों के अन्दर या समुदाय या समूह, जिसमें वह रहता है जैसे अनेक स्तरों पर व्यक्ति के स्वास्थ्य को प्रभावित करती हैं। इसके अलावा ये अलग–अलग स्तर के प्रभाव एक साथ और एक–दूसरे के साथ परस्पर–क्रिया के द्वारा व्यक्तियों के स्वास्थ्य का स्वरूप निर्धारित कर सकते हैं। उदाहरण के लिए, यदि कोई व्यक्ति गरीब परिवार में पल-बढ़ रहा है तो उसके स्वास्थ्य पर गरीबी का प्रभाव तब और बढ़ जाता है जब वह परिवार किसी लाभ वंचित समुदाय (जहाँ अन्य परिवार भी गरीब हैं) के बीच रह रहा हो और यदि यह परिवार किसी मध्य-वर्गीय समुदाय के बीच रह रहा है तो स्वास्थ्य पर उस गरीबी का प्रभाव अपेक्षाकृत कम होगा। इसके अतिरिक्त, गरीबी जीवन के

अलग–अलग चरणों (अर्थात् शैशवकाल और बाल्यावस्था, गर्भावस्था के दौरान या वृद्धावस्था के दौरान) में अलग-अलग प्रभाव डालती है।

स्वास्थ्य अनेक कारकों द्वारा निर्धारित होता है। इनमें अनुवांशिक विरासत, व्यक्तिगत व्यवहार, बेहतर स्वास्थ्य देखभाल सुविधाओं की उपलब्धता तथा बाह्य पर्यावरण (जैसे हवा, पानी की गुणवत्ता और आवासीय परिस्थितियां) आदि शामिल हैं। इसके अलावा, अनेक शोधों के द्वारा स्वास्थ्य तथा सामाजिक और आर्थिक कारकों के बीच सम्बन्ध का भी पता लगाया गया है।

3.3 सामाजार्थिक और सांस्कृतिक वेरिएबल्स का स्वास्थ्य पर प्रभाव

स्वास्थ्य से संबंधित सामाजिक और सांस्कृतिक वैरिएबल्स के प्रभाव में दोनों आयाम यानि समय (जीवन के महत्वपूर्ण चरण और संचित असुरक्षा के प्रभाव) तथा स्थान (अनेक स्तर की असुरक्षा) शामिल हैं। सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्ती (वेरिएबल्स) जिन संदर्भों में स्वास्थ्य संबंधी निष्कर्षों को प्रभावित करने के लिए कार्य करते हैं, उन्हें मूलतया: सामाजिक और सांस्कृतिक पर्यावरण कहा जाता है।

हालिया वर्षों में समाज विज्ञानियों और समाज मरक–विज्ञानियों (एपिडेमियोलोंजिस्ट) ने स्वास्थ्य के पूर्ववृत अर्थात् स्वास्थ्य को प्रभावित करने वाले अनेक सामाजिक और सांस्कृतिक वेरिएबल्स को अपने अध्ययन का केन्द्र बनाया है। इन वेरिएबल्स में सामाजिक–आर्थिक स्तर (एसईएस), नस्ल/प्रजाति, महिला–पुरुष की भूमिका, आप्रवासन का स्तर और संस्कृति–संक्रमण, गरीबी और अपवंचन, सामाजिक तंत्र और सामाजिक सहयोग, कार्यकरण के लिए मनोवैज्ञानिक वातावरण, और आय–वितरण, सामाजिक सम्बद्धता, सामाजिक पूंजी और सामूहिक क्षमता जैसी सामाजिक वातावरण की विशेषताएं शामिल हैं। स्वास्थ्य के सामाजिक निर्धारकों के बारे में आधुनिक शोध कार्यों का व्यापक विवरण मौजूदा पाठ्य–पुस्तकों में उपलब्ध है। इस अध्याय में कुछ चुनींदा सामाजिक वैरिएबल्स–एसईएस, कार्यकरण का मनोवैज्ञानिक वातावरण और सामाजिक तंत्र/ सामाजिक सहयोग के बारे में शोध–निष्कर्षों पर प्रकाश डाला गया है। इन वेरिएबल्स को इसलिए चुना गया है, क्योंकि इनका स्वास्थ्य के साथ गहरा सम्बन्ध है, इन वेरिएबल्स को मापने के विश्वसनीय तथा तथ्यपूर्ण तरीके उपलब्ध हैं, और यह मानने के अनेक कारण हैं कि ये वेरिएबल्स स्वास्थ्य स्तर को प्रभावित करने के लिए व्यवहार तथा विरासत में मिली विशेषताओं के साथ परस्पर क्रिया करते हैं।

(i) सामाजार्थिक स्तर और स्वास्थ्य : सदियों से यह मान्यता चली आ रही है कि स्वास्थ्य और एसईएस के बीच एक सह–सम्बन्ध है। अलग–अलग समाजों में और विभिन्न प्रकार के स्वास्थ्य निष्कर्षों के लिए, स्वास्थ्य के क्षेत्र में सामाजिक–आर्थिक अन्तर बहुत व्यापक और विशाल है तथा निरन्तर बने हुए हैं। समाज

विज्ञान में, एसईएस को तीन अलग–अलग संकेतकों यानि शैक्षिक स्तर, आय और व्यवसाय–स्तर के द्वारा मापा जाता है। इसके लिए, इनका अलग–अलग और एक साथ भी उपयोग किया जाता है। हालांकि ये संकेतक सामान्य तौर पर एक–दूसरे से जुड़े हैं लेकिन प्रत्येक संकेतक सामाजिक स्थिति के एक खास पहलू की जानकारी जुटाता है और एक विशिष्ट कार्य–प्रणाली (मैकेनिज्म) के जरिए प्रत्येक संकेतक स्वास्थ्य तथा स्वास्थ्य–व्यवहार के साथ सम्भवतः जुड़ा हुआ है।

(ii) शैक्षिक स्तरः किसी की शैक्षिक योग्यता को आंकने के लिए आमतौर पर दो प्रश्न पूछे जाते हैं–

(1) कितने वर्ष की स्कूली शिक्षा पूरी की है और;

(2) कौन सी शैक्षिक उपाधियां हासिल की हैं।

शिक्षा की गुणवत्ता भी स्वास्थ्य के लिए प्रासंगिक हो सकती है, लेकिन यह कहना मुश्किल है कि यह आकलन कितना सटीक है। शोध कार्यों, दस्तावेजों ने स्वास्थ्य–निष्कर्षों यानि मृत्यु दर, रुग्णता, स्वास्थ्य की स्थिति और कार्यकरण की सीमिततओं को शिक्षा से जोड़ा है। निम्न शैक्षिक स्तर और खराब स्वास्थ्य का नाता आजीवन बना रहता है। उदाहरण के लिए 12 वर्ष या इससे कम की स्कूली शिक्षा प्राप्त काकेशियाई (काकेशियन) माता के नवजात शिशु की उसके पहले जन्मदिन से पूर्व मृत्यु की संभावना, 16 वर्ष या अधिक की स्कूली शिक्षा प्राप्त माता की तुलना में 2.4 गुना ज्यादा होती है। माता की शिक्षा और शिशु मृत्यु दर के बीच सम्बन्ध को, ''तिर्यक (ग्रेडिएण्ट) के रूप में व्यक्त किया गया है यानि यदि शैक्षिक स्तर कम है तो शिशु–मृत्यु की संभावना ज्यादा होगी। शैक्षिक विषमताओं का यह पैटर्न सभी नस्लों/प्रजातियों जैसे अफ्रीकी–अमेरिकन, हिस्पानिक, अमेरिकन–इंडियन और एशियाई/प्रशान्त द्वीपीय शिशुओं में देखा गया है। शैक्षिक स्तर का यह रूझान जीवन के सभी चरणों जैसे कि बाल्यावस्था–स्वास्थ्य (धूम्रपान, एकाकी जीवन शैली और मोटापा, रक्त में लड (सीसा) का बढ़ा हुआ स्तर), प्रौढ़ावस्था–स्वास्थ्य (25 से 64 वर्ष की आयु के बीच मृत्यु दर) और वृद्धावस्था स्वास्थ्य (डायबिटीज और उच्च तनाव की वजह से कार्यकरण सीमित हो जाना) में भी देखा गया है। इन पर्यवेक्षित आंकड़ों में शिक्षा और स्वास्थ्य के बीच नजर आने वाला सह–सम्बन्ध का मतलब 'कारण–कार्य' वाला सम्बन्ध नहीं है। उदाहरण के लिए, निम्न शैक्षिक स्तर और प्रौढ़ावस्था के दौरान असामयिक मृत्यु का ज्यादा जोखिम (अलग–अलग देशों में किए गए अध्ययन में भी) यह सम्बन्ध हो सकता है, आंशिक रूप से ''कार्य–कारण'' के विपरीत प्रभाव दिखाए यानि बचपन के दौरान गम्भीर बीमारी की वजह से वह व्यक्ति अपनी अपेक्षित स्कूली शिक्षा किशोरावस्था में पूरी न कर सका हो और केवल इसी वजह से असामायिक मृत्यु के उच्च जोखिम वाली श्रेणी में आ गया हो। अब इसके विपरीत नजरिए से देखते हैं, शिक्षा और स्वास्थ्य के बीच का सह–सम्बन्ध एक तीसरे वेरिएबल (परिवर्ती) जैसे कि

''योग्यता'' के द्वारा प्रभावित हो और आंशिक रूप से एक भ्रामक निष्कर्ष दे। ''योग्यता'' शैक्षिक और स्वास्थ्य–स्तर दोनों का एक प्राथमिक साझा कारण है। हालांकि, इसकी सम्भावना बहुत कम है, लेकिन कुछ चरम मामलों में यदि शिक्षा और स्वास्थ्य के बीच सह–सम्बन्ध को इस ''भ्रामक'' स्थिति के साथ पूरी तरह से कारण–स्वरूप ले लिया जाए तो व्यक्ति का शैक्षिक–स्तर सुधार उस व्यक्ति के स्वास्थ्य–सुधार में कोई सहायता नहीं करेगा।

तथापि, सभी साक्ष्य या सबूत यह अवश्य दर्शाते हैं कि शिक्षा स्वास्थ्य में सुधार का एक कारक परिवर्ती है। संयुक्त राज्य अमरीका में एक स्वाभाविक नीतिगत परीक्षण किया गया था, इसमें अलग–अलग समय में अलग–अलग स्थानों के लिए अनिवार्य स्कूली शिक्षा का विधान पारित किया गया। इस परीक्षण से संकेत मिले कि उच्च शैक्षिक स्तर बेहतर स्वास्थ्य (कम मृत्यु दर) से जुड़ा है। इसके अलावा, स्कूल–पूर्व शिक्षा के भी कुछ यादृच्छ परीक्षण किए गए। ऐसा ही एक परीक्षण हाई/स्कोप पेरी प्री–स्कूल परियोजना नाम से किया गया। इससे किशोरावस्था और वयस्क अवस्था में भी शिक्षा के लाभ जैसे कि किशोरावस्था में गर्भवती हो जाने के मामलों में कमी, हाईस्कूल में पढ़ाई छोड़ देने वाले बच्चों की संख्या में गिरावट, बेहतर आय और रोजगार की संभावनाएं (ये सभी स्वस्थ्य सुधार में सहायक हो सकते हैं) जैसे निष्कर्ष सामने आए। इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि स्कूली शिक्षा और स्वास्थ्य के प्रभाव और स्कूली शिक्षा के स्तर तथा विरासत में मिली विशेषताओं के बीच परस्पर–क्रिया को दर्शाता है।

ऐसे अनेक कारणात्मक तरीकों की संकल्पना की गई है जिसके द्वारा उच्च स्तर की स्कूली शिक्षा स्वास्स्थ्य–परिणामों को बेहतर बना सकती है। इसमें स्वास्थ्य संवर्धन को बढ़ावा देने वाला ज्ञान और और कौशल हासिल करना (यानि बेहतर स्वास्थ्य के तौर–तरीके अपनाना); ''स्वास्थ्य–जागरुकता'' को बढ़ावा देना, और स्वास्थ्य–देखभाल सेवाओं तक आसान पहुंच; समाज में बेहतर दर्जा और सम्मान; और साथ ही उच्च स्कूली शिक्षा के मामले में महारत और नियंत्रण का आत्मविश्वास (यह एक मनोवैज्ञानिक पहलू है); आय और रोजगार की सम्भावनाओं पर शिक्षा का अप्रत्यक्ष प्रभाव शामिल है। हालांकि पुष्ट तौर पर यह नहीं कहा जा सकता है कि इनमें से कौन सा रास्ता स्वास्थ्य के लिए ज्यादा अहम है लेकिन स्वास्थ्य के बेहतर स्तर से जुड़ी स्कूली शिक्षा के समग्र पैटर्न में ये सभी अपना योगदान दे सकते हैं। इसके अलावा, सबूतों से ऐसे संकेत मिले हैं कि वंचित वर्ग के बच्चों के स्वास्थ्य में सुधार के लिए एक साधन के तौर पर स्कूल–पूर्व शिक्षा तक पहुंच को आसान बनाना भी महत्वपूर्ण है।

(iii) आय : शैक्षिक स्तर का आकलन करने की तुलना में आय का आकलन करना जटिल है। आय की जानकारी जुटाने के लिए आयोजित सर्वेक्षणों की प्रश्नावली तैयार करते समय यह ध्यान रखा जाय कि इसमें निम्नलिखित तत्व अवश्य शामिल हों

(क) टाइम फ्रेम–उदाहरण के लिए मासिक, वार्षिक अथवा जीवनकाल के दौरान (आमतौर पर आय के आकलन की समय–सीमा जितनी कम होती है, त्रुटियों की सम्भावना उतनी ज्यादा होती है);

(ख) स्रोत, जैसे कि मजदूरी और वेतन, स्वरोजगार से आय, किराया, ब्याज और लाभांश, पेंशन, और सामाजिक सुरक्षा, बेरोजगारी भत्ता, निर्वाह–भत्ता और नगदी की बजाय कोई अन्य तरीका जैसे भोजन के कूपन (यह तरीका अमरीका में प्रचलित है);

(ग) माप की इकाई यानि आकलित आय व्यक्तिगत है या पूरे परिवार की है (परिवार के मामले में परिवार के आकार को समायोजित किया जाना चाहिए) और

(घ) यह आय सकल आय है या शुद्ध आय है (कर तथा ट्रान्सफर भुगतान आदि शामिल हैं या नहीं)। इसके अलावा, इसमें आय आकलन त्रुटियों की सम्भावना ज्यादा (शैक्षिक स्तर की तुलना में) होने के अलावा जनसाधारण द्वारा आय की जानकारी देने से इन्कार करने के संभावना भी ज्यादा होती है।

जहां तक शिक्षा का सम्बन्ध है, अधिकांश शोध एवं सर्वेक्षण अध्ययनों ने स्वास्थ्य और शिक्षा के बीच सह–सम्बन्धों को पुख्ता तौर पर साबित किया है। उदाहरण के लिए पैनल स्टडी ऑफ इन्कम डायनामिक्स में शैक्षिक स्तर और व्यावसायिक स्तर को स्थिर मानने के बावजूद, यह पाया गया कि काम करने की आयु समूह में शामिल वयस्कों में मौत का 3.6 गुना जोखिम के उपरांत पारिवारिक आय से जुड़ा हुआ था। इस अध्ययन में शीर्ष (1984 में 70,000 डॉलर) और सबसे नीचे (15,000 डॉलर) की आय को तुलना के लिए शामिल किया गया था। आय और मृत्यु दर के बीच सह–सम्बन्ध को ''तिर्यक (ग्रेडिएन्ट) के रूप में व्यक्त किया गया है (एडलर, 1984)। इसका तात्पर्य यह है कि खराब स्वास्थ्य का जोखिम केवल सरकार द्वारा तय गरीबी रेखा से नीचे के लोगों तक ही सीमित नहीं है। बल्कि व्यक्ति–विशेष के स्वास्थ्य में सुधार की संभावना (यानि असामयिक मृत्यु न होना) आय के स्तर में प्रगामी वृद्धि के साथ बढ़ती जाती है (यद्यपि यह सह–सम्बन्ध आय के निम्न स्तर पर ज्यादा ढलवां नजर आता है और आय मध्यिका (मीडियन) स्तर से लगभग दुगनी होने पर यह ''निर्यक'' समतल हो जाता है। अलग–अलग डाटा–सेटों द्वारा तथापि स्वास्थ्य/आय के बीच सह–सम्बन्ध के परीक्षण संकेत देते हैं कि आय का निम्न स्तर स्वास्थ्य के खराब स्तर का कारण हो सकते हैं। उदाहरण के लिए पैनल स्टडी और इन्कम डायनामिक्स तथा नेशनल हैल्थ

इन्टरव्यू सर्वे से यह तथ्य सामने आया है कि हालाकि, बच्चे परिवार की आय में आमतौर पर कोई योगदान नहीं दे लेकिन उनका स्वास्थ्य काफी कुछ परिवार की आय पर निर्भर करता है। इसके अलावा, बच्चों के स्वास्थ्य पर पड़ने वाला यह प्रभाव उम्र बढ़ने के साथ–साथ बढ़ता जाता है और किशोर या वयस्क होने पर उनका स्वास्थ्य स्पष्ट तौर पर खराब हो जाता है।

एक वैकल्पिक संभावना यह है कि आय और स्वास्थ्य के बीच सह–सम्बन्ध को एक तीसरे परिवर्ती जैसे कि विरासत में मिली योग्यता या क्षमता के द्वारा व्यक्त किया जाय। यह तीसरा परिवर्ती सामाजार्थिक परिवर्तनशीलता और स्वास्थ्य संरक्षण के तौर–तरीकों से जुड़ा है। तथापि, विरासतीय योग्यता भी आय/स्वास्थ्य के बीच सह–संबंध के लिए पूरी तरह जिम्मेदार नहीं मानी जा सकती। यदि आय/स्वास्थ्य के बीच सह–सम्बन्ध के लिए केवल विरासतीय क्षमता या योग्यता को जिम्मेदार माना जाए तो वे बच्चे जिनके वास्तविक माता–पिता कोई और है तथा किसी अन्य ने उन्हें गोद ले लिया है, ऐसी स्थिति में इन बच्चों के स्वास्थ्य और पारिवारिक आय के बीच कोई सह–सम्बन्ध की उम्मीद नहीं की जा सकती है (इस मामले में यह माना गया है कि गोद लेने वाले माता–पिता बच्चे की सामाजार्थिक परिस्थितियां तथा पृष्ठभूमि देखकर बच्चा गोद ले रहे हैं)। लेकिन राष्ट्रीय स्वास्थ्य सर्वेक्षण में यह पाया गया कि गोद लिए गए बच्चों को जन्म देने वाले मां–बाप द्वारा पाले–पोषे गए बच्चों के स्वास्थ्य पर पारिवारिक आय का एक जैसा प्रभाव पड़ा है (अध्ययन, 2002)। स्वास्थ्य के सह–सम्बन्ध से जुड़े अन्य प्रकार के परीक्षणों– जैसे कि अनुमानों के लिए परिवर्ती साधनों का इस्तेमाल (ऐटनर, 1996) और स्वाभाविक परीक्षणों के ऑब्जर्वेशन, जिनके निष्कर्षों में आय में बहिर्जातीय वृद्धि पायी गई (कॉस्टेलो, 2003), मे भी यही निष्कर्ष मिले कि स्वास्थ्य–स्तर सुधार में उच्च आय के प्रभाव को ''कारण–स्वरूप'' माना जा सकता है। आय को स्वास्थ्य से जोड़ने वाले ''कारण–स्वरूप'' तरीके शिक्षा को स्वास्थ्य से जोड़ने वाले तरीकों से भिन्न हो सकते हैं। निश्चय ही व्यक्ति अपनी आय के द्वारा स्वास्थ्य संरक्षण के लिए आवश्यक विभिन्न वस्तुएं और सेवाएं (पोषक आहार, आवास गर्म रखने की सुविधा, स्वास्थ्य बीमा) खरीदने में सक्षम होता है। इसके अलावा, सुरक्षित आय व्यक्ति में अपने आसपास के वातावरण पर नियंत्रण और स्वामित्व का मनोवैज्ञानिक भाव पैदा करती है। यह भी देखा गया है कि यदि आय अच्छी हो तो व्यक्ति का व्यवहार भी स्वस्थ (जैसे कि सीट बैल्ट पहनना, घर में धूम्रपान न करना आदि) होता है, इस व्यवहार के लिए कोई कीमत नहीं चुकानी पड़ती है (हालांकि स्वास्थ्य और आय के बीच इन रिश्तों में निहित ''कारण–स्वरूप'' तंत्र क्या है, यह स्पष्ट नहीं है, लेकिन अनुमान है कि ''पर्याप्त संसाधन न होने पर माता–पिता में वह उत्साह नहीं रहता जो उन्हें अपने बच्चों को जोर–जबरन सीट बैल्ट बांधने की ऊर्जा दे। गरीब माता–पिता गरीबी से जुड़े तनाव और अवसाद से पार पाने के लिए घर में भी धूम्रपान कर सकते हैं)।''

सामाजिक स्वास्थ्य से जुड़े विद्वानों के बीच यह बहस अभी भी जारी है कि स्वास्थ्य के लिए निरपेक्ष आय ज्यादा अहम है या सापेक्ष आय। निरपेक्ष आय का सिद्धान्त कहता है कि व्यक्तिगत स्तर की स्वस्थता उसकी अपनी और केवल अपनी (निरपेक्ष) आय पर निर्भर करती है। उदाहरण के लिए, गरीबी से संबंधित अनेक परिभाषाओं में निरपेक्ष रूप से अभिव्यक्त न्यूनतम जीवन स्तर के लिए आवश्यक जरूरतों को पूरा न कर पाने की अवधारणा को आधार बनाया गया है। इसके विपरीत, आय का सापेक्ष सिद्धान्त कहता है कि व्यक्ति विशेष की आय और उसके आसपास के लोगों की आय के बीच सापेक्ष अन्तर उस व्यक्ति के स्वास्थ्य का निर्धारण करता है।

सापेक्ष आय के सिद्धान्त को अनुभवजन्य शोध में अपनाया गया है। इसके लिए सापेक्ष वंचन (व्यक्तिगत स्तर पर) के पैमाने और आय असमानता (सामुदायिक स्तर पर) के सकल पैमाने को जरिया बनाया गया है। सापेक्ष वंचन पैमाने में लोगों को उनकी आयु, पेशा और आवासीय समुदाय के रूप में अलग–अलग समूहों में रखा गया और इन समूहों में शामिल लोगों की आय के बीच अन्तर को आंका गया है और तुलना की गई है। निरपेक्ष आय और स्वास्थ्य के बीच संबंध में अन्तरनिहित ''कारण–स्वरूप'' तंत्र स्वास्थ्य–संरक्षण के लिए आवश्यक भौतिक वस्तुओं और सेवाओं तक पहुंच की क्षमता से जुड़े हैं। सापेक्ष आय की अवधारणा में आय को व्यक्ति–विशेष की सामाजिक तुलना और साथ ही उपभोग मानक स्तर हासिल न कर पाने की वजह समाज में पूर्ण सहभागिता न होने से उत्पन्न मनोवैज्ञानिक तनाव के माध्यम से स्वास्थ्य से जोड़ा गया है। अनेक सबूतों से ऐसे संकेत मिले हैं कि सापेक्ष वंचन (लोगों में आंका गया) और स्वास्थ्य के खराब परिणाम के बीच सह–सम्बन्ध विद्यमान है। तत्संबंधित एक अध्ययन में आय के सामाजिक वितरण (सापेक्ष वंचन का एक सकल सूचकांक) को व्यक्ति–विशेष स्वास्थ्य–परिणाम से जोड़ने का प्रयास किया गया है, हालांकि, इस क्षेत्र के निष्कर्षों पर विवाद जारी है (सुब्रमनियन और कवाची, 2004, लिन्च एट एल, 2004)।

स्वास्थ्य अनुसंधान में पारिवारिक आय जैसे परिवृत्य के अलावा विरासत में प्राप्त सम्पत्ति सहित अन्य सम्पत्ति, बचत, अपना घर या अपना वाहन जैसे अन्य परिवृत्य भी उपयोगी हो सकते हैं (बर्कमैन और मैकिन टायर, 1997)। आय एक निर्धारित अवधि में संसाधनों के प्रवाह का परिचायक है और सम्पदा किसी एक निर्धारित समय–काल में सम्पत्तियों (देनदारियां हटाकर) का संकलन है और इस प्रकार आर्थिक संग्रहण का परिचायक है। अध्ययनों में सम्पदा का आकलन विशेष महत्व रखता है। इसमें उन परिसम्पतियों का आकलन किया जाता है जो व्यक्ति ने अपने सक्रिय जीवनकाल में अर्जित की हैं और सेवानिवृत्त होने के बाद अपनी इन बचतों पर निर्भर है। उदाहरण के लिए, पैनल स्टडी ऑफ इन्कम डायनामिक्स में पाया गया कि करोपरान्त पारिवारिक आय और सेवानिवृत्ति की आयु के उपरान्त वाले लोगों में मृत्यु दर के बीच

कमजोर सह–संबंध है, जबकि सम्पदा आकलन से संकेत मिलते हैं कि इसका मृत्यु के जोखिम के साथ मजबूत सह–संबंध हैं (डंकन, एट एल, 2002)।

अंततः आय, गरीबी और अपवंचन के पैमाने का विस्तार किया गया है तथा इसमें एक और आयाम ''स्थान'' जोड़ा गया है। बहुस्तरीय अध्ययन अभिकल्पों का उपयोग करने वाले शोध कार्यों में आर्थिक स्तर की आसपास के वातावरण के परिणाम–रूप में संकल्पना की गई है (कवाची और बर्कमैन, 2003)। इन अध्ययनों से पता चला है कि वंचित (अत्यंत गरीब) बस्तियों में निवास करने से व्यक्तिगत एसईएस (सामाजार्थिक स्तर) के प्रभाव से परे स्वास्थ्य को अतिरिक्त जोखिम का सामना करना पड़ता है। अभी हाल ही में आवास तथा शहरी विकास विभाग ने बस्ती बदलने का स्वास्थ्य पर प्रभाव के बारे में एक यादृच्छ (रैण्डम) परीक्षण कराया था। इस अध्ययन का शीर्षक था अवसर की ओर अग्रसर होना। इस अध्ययन के निष्कर्ष पर्यवेक्षण के द्वारा जुटाई गई जानकारी के अनुरूप थे यानि एक गरीब बस्ती से निकल कर अपेक्षाकृत समृद्ध बस्ती में बसने से किशोरों के मानसिक स्वास्थ्य में तथा मोटापे की समस्या में उल्लेखनीय सुधार आया (क्लिंग एट एल, 2004)। गरीब बस्तियों में भौतिक, सामाजिक और सेवा से जुड़ा माहौल अनुकूल नहीं होता है, ये बस्तियों हैवी ट्रैफिक वाले आवागमन मार्गों के आसपास बसी होती है, इसलिए यहां वायु प्रदूषण बहुत अधिक होता है, यहां किराना स्टोर अस्पताल और शारीरिक गतिविधियों के लिए सुरक्षित स्थल जैसी सुविधाओं की कमी होती है, सामाजिक अव्यवस्था का खतरा बना रहता है (कवाची और बर्कमैन, 2003)। दूसरे शब्दों में, स्वास्थ्य निर्माण के लिए व्यक्ति–विशेष के परिवार का माहौल सामाजिक और आर्थिक रूप से प्रासंगिक तो होना ही चाहिए पर साथ ही जिस बस्ती या समुदाय में वह रह रहा है उसका सकल सामाजिक परिदृश्य भी स्वास्थ्य निर्माण के अनकूल होना चाहिए।

(iv)पेशागत या व्यवसायगत स्तर : समाज विज्ञानी सामाजार्थिक स्तर के तीसरे मानक घटक, जिसे पेशागत या व्यवसायगत स्तर कहा जाता है, का भी आकलन करते हैं। संक्षिप्त रूप में कहा जाए तो इस घटक में प्रतिष्ठा का स्तर, अधिकार, शक्तियां तथा श्रम बाजार में विभिन्न पदों से जुड़े अन्य संसाधन शामिल हैं। आय की तुलना में व्यवसायगत स्तर को ज्यादा अहमियत प्राप्त है क्योंकि इसे आर्थिक संसाधनों तक स्थायी पहुंच उपलब्ध होती है।

स्वास्थ्य के लिए प्रासंगिक व्यवसाय के पहलुओं को आंकने के उद्देश्य से अलग–अलग विषयगत विद्वानों ने तीन प्रमुख परम्परागत तरीकों को अपनाया है। पारम्परिक पेशागत स्वास्थ्य के क्षेत्र में, शोधकर्ताओं ने रासायनिक, जहरीले पदार्थों अथवा शरीर को नुकसान पहुंचाने वाले कार्यों जैसे जॉब के शारीरिक पहलुओं पर ध्यान केन्द्रित किया है (स्लोट, 1987)। व्यवसायगत स्वास्थ्य मनोविज्ञान और सामाजिक मरकविज्ञान के

क्षेत्र में; शोधकर्ताओं ने कार्य के मनोवैज्ञानिक वातावरण, जॉब सुरक्षा के आकलन, जॉब की मनोवैज्ञानिक मांग तथा कार्य–प्रक्रिया पर नियंत्रण की पहचान तय करने पर ध्यान केन्द्रित किया है (कारजेक और थिओरेल, 1990)। और अन्त में, समाजशास्त्रीय परम्परा में, व्यवसायगत स्तर जिसमें वस्तुपरक संकेतक (अलग–अलग कार्यों के लिए अपेक्षित शैक्षिक योग्यता) और व्यक्तिपरक संकेतक (व्यवसायगत पदानुक्रम में अलग–अलग कार्यों से जुड़ी प्रतिष्ठा का स्तर) दोनों ही पर ध्यान केन्द्रित किया गया है (बर्कमैन एण्ड मैकिनटायर, 1997)।

व्यवसायगत स्तर के आकलन के लिए आजकल अनेक वैकल्पिक तरीके मौजूद हैं। उदाहरण के लिए, एडवर्ड वर्गीकरण (अमरीकी जनगणना ब्यूरो, 1963)। यह शारीरिक और गैर–शारीरिक व्यवसाय के बीच पेशागत अन्तर पर आधारित स्कीम है। वर्गीकरण यह प्रदर्शित करने के लिए उपयोग किया गया था कि जो बच्चे अपनी बाल्यावस्था में शारीरिक श्रम करने वाले परिवारों में पले–बढ़े हैं (गैर–शारीरिक श्रम वाले परिवारों की तुलना में), उन्हें किशोरावस्था या वयस्क आयु में हृदय रोग से पीड़ित होने की सम्भावना ज्यादा होती है। इसमें वे व्यक्ति शामिल नहीं हैं, जिन्होंने स्वयं अपने बूते पर सामाजिक, आर्थिक दर्जा हासिल कर लिया है (ग्लिकमैन एट अल, 1995)। डन्कन सामाजार्थिक सूचकांक (एसईआई) एक ऐसा वैकल्पिक तथा आमतौर पर उपयोग किया जाने वाला सूचकांक है जिसमें पेशागत प्रतिष्ठा को प्रत्येक पेशे से संबंधित शैक्षिक और आय–स्तर से जोड़ा गया है। सामाजिक–आर्थिक सूचकांक (एसईआई), जिसमें 0 से लेकर 100 तक का एक पैमाना है, इसे डंकन ने 1961 में तैयार किया था। इसमें 1947 के राष्ट्रीय अभिव्यक्ति अनुसंधान केन्द्र अध्ययन (नेशनल ओपिनियन रिसर्च सेन्टर स्टडी) के आंकड़ों का इस्तेमाल किया गया था। इस अध्ययन ने प्रतिनिध्यात्मक व्यवसायों की सापेक्ष प्रतिष्ठा रैंकिंग के बारे में जन–साधारण की राय बताई थी। इसके बाद इस रैंकिंग को जनसाधारण द्वारा परिभाषित व्यवसायों से जुड़े शैक्षिक तथा आय स्तर के बारे में अमरीकी जनगणना सूचना के साथ जोड़ा गया था। इसके परिणाम स्वरूप सामाजिक–आर्थिक संकेतक से प्राप्त निष्कर्षों को अनेक बार अद्यतन बनाया जा चुका है (बर्गार्ड एट अल, 2003)। बिस्कॉन्सिन हाईस्कूल 1957 में शिक्षा प्राप्त पुरुष और महिलाओं (1992–1993 में 53 या 54 वर्ष की आयु) के बारे में विस्कॉन्सिन लॉगिट्यूडनल सर्वे में, डंकन एसईआई के स्कोर स्वास्थ्य, अवसाद, मनोवैज्ञानिक स्वस्थता और धूम्रपान का स्तर के बारे में स्वयमेव दी गई जानकारी के विलोम रूप से जुड़े थे। (मरमॉट एट एल, 1997)

शिक्षा और आय, दोनों का व्यवसायगत दर्जे के साथ सह–सम्बन्धयह आंशिक रूप से विपरीत ''कार्य–करण'' प्रभाव दर्शा सकता है। यानि, खराब स्वास्थ्य (अवसाद या शराब का आदी होना) व्यवसायगत दर्जे में पतन ओर समाज में उत्थान की बाधा का प्रमुख कारण है। व्यक्ति–विशेष की व्यवसाय–पसंद भी स्वास्थ्य स्तर

को प्रभावित करने वाले अन–आकलित परिवृत्य (जैसे योग्यता या क्षमता) को दर्शा सकती है। हालांकि नौकरी जाने (फैक्ट्री बन्द हो जाने के बारे में अध्ययन) का स्वास्थ्य पर पड़ने वाले खराब प्रभाव को व्यापक रूप से स्वीकार किया गया है (कैल और जोन्स, 2000)। लेकिन इसकी तुलना में कुछेक शोध कार्यों ने व्यवसायगत प्रतिष्ठा और स्वास्थ्य पर पड़ने वाले प्रभाव जैसे परिवृत्यों का ''कारण–स्वरूप'' प्रभाव भी दर्शाया है। जैसा कि उपर उल्लेख किया गया है, व्यवसायगत–स्तर को मापने वाले डंकन एसईआई (सामाजार्थिक संकेतक) जैसे पैमाने प्रतिष्ठा मापने वाले पैमाने और शिक्षा तथा आय के संकेतकों को मिला–जुला कर उपयोग करते हैं, जबकि शिक्षा और आय, स्वतंत्र रूप से (अलग–अलग) स्वास्थ्य स्तर को प्रभावित करते हैं। इसके अलावा, व्यवसायगत स्तर को मापने के लिए ईष्टतम समय–काल कौन सा होना चाहिए, इस बारे में भी अनिश्चितता है क्योंकि लोग अपने जीवनकाल में व्यवसाय बदलते रहते हैं। लोग अपने कैरियर के शुरुआती समय में समाज में अपने उत्थान को ध्यान में रखकर नौकरी बदलते रहते हैं, जबकि कैरियर के आखिरी वर्षों में इस बदलाव का कारण पेशे के दबाव को झेलने में अक्षमता भी हो सकता है (बर्गार्ड एट अल, 2003)। इस कारण से, किसी व्यक्ति का उसकी मृत्यु या बीमारी शुरू होते समय अंतिम पेशा, हो सकता हो, कि उसके व्यावसायिक कैरियर का सर्वश्रेष्ठ व्यवसाय न हो। कुछ अध्ययनों में, मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन काल में उसके व्यवसायगत स्तर का उसके स्वास्थ्य पर पड़ने वाले प्रभाव का आकलन किया गया है (बर्गार्ड एट एल, 2003); हालांकि कुछ तथ्यों से संकेत मिलते हैं कि कैरियर के अलग–अलग समयकाल में निरंतर व्यवसायगत निम्न दर्जा अथवा समय बीतने के साथ व्यवसायगत दर्जे में गिरावट का स्वास्थ्य के खराब परिणामों से सह–सम्बन्ध है।

व्यवसायगत स्तर को स्वास्थ्य निष्कर्षों से लिंक करने वाले जरिए शिक्षा या आय को स्वास्थ्य से लिंक करने वाले जरियों से बिल्कुल अलग हैं। पहला, व्यवसाय में यदि दर्जा ऊंचा होगा तथा रसायन, जहरीले पदार्थों के सम्पर्क में आने या शारीरिक नुकसान पहुंचने का जोखिम भी कम होगा। उच्च दर्जे वाले कार्यों में वहां का कार्यकरण वातावरण भी मनोवैज्ञानिक नजरिए से स्वस्थ होगा (कारसेक और थिओरल, 1990), नियंत्रण का स्तर भी ऊंचा होगा और साथ ही कौशल उपयोग के ज्यादा अवसर मिलेंगे (एकाधिकार की कमी)। आत्म नियंत्रण का भाव, दैनिक तनाव से निपटने में सहायक होता है और धूम्रपान या शराब की लत जैसी हानिकारक आदतों के पनपने की सम्भावना कम होगी। इसमें कोई शक नहीं कि पेशागत स्तर और स्वास्थ्य के बीच मध्य–मार्ग, उच्च आय तथा समाज में शक्तिशाली सम्पर्क जैसे अनेक संसाधनों तक पहुंच के अप्रत्यक्ष प्रभाव के बीच से गुजरता है।

संक्षेप में, ऐसे अनेक पुख्ता सबूत हैं जो एसईएस के प्रमुख संकेतकों को स्वास्थ्य–निष्कर्षों से जोड़ते हैं। शिक्षा, आय और व्यवसाय व्यक्ति–विशेष के स्वास्थ्य निष्कर्षों को ढालने में उसके जीवनकाल के दौरान

सामाजिक संगठन (परिवार, आस–पड़ोस और उससे परे) के अनेक स्तरों पर एक दूसरे के साथ सह–क्रिया करते हैं।

(v)सामाजिक नेटवर्क, सामाजिक सहयोग और स्वास्थ्य : स्वास्थ्य का एक अनन्य निर्धारक हमारा समाज के अन्य लोगों के साथ सम्पर्क की सीमा, मजबूती और गुणवत्ता है। हमें स्वास्थ्य के सामाजिक सम्पर्क की अहमियत को मान्यता एमिल दुर्खीम की कृतियों के समय से नजर आती है। हाल ही में जॉन बाउलबी (1969) ने कहा था कि सुरक्षित सामाजिक अनुरक्ति केवल, भोजन, स्नेह और अन्य भौतिक संसाधनों के लिए ही नहीं बल्कि प्रेम, सुरक्षा तथा मानव के सामान्य विकास के लिए आवश्यक अन्य अभौतिक संसाधनों के लिए भी जरुरी है (बर्कमैन और ग्लास, 2000)। जीवन के कुछ काल रिश्ते और सम्बन्ध बनाने के लिए बहुत महत्वपूर्ण होते हैं (फोनागी, 1996)। अनुरक्ति सिद्धान्त के अनुसार, शैशवकाल के दौरान सुरक्षित अनुरक्ति, नजदीकी प्रभावशाली रिश्ते कायम करने की मानवीय आवश्यकता की पूर्ति करती है। सामाजिक रिश्तों को वर्गीकृत करने में दो सामाजिक परिवृत्य काफी अहम हैं : सामाजिक नेटवर्क (तंत्र) और सामाजिक सहयोग। व्यक्ति–केन्द्रित सामाजिक संबंधों के जाल को सामाजिक नेटवर्क कहते हैं (बर्कमैन और ग्लास, 2000)। इसके आकलन में सामाजिक रिश्तों का ढांचागत पहलू शामिल है, जैसे कि आकार (नेटवर्क में शामिल सदस्यों की संख्या), घनिष्ठता (सदस्य किस सीमा तक एक–दूसरे से जुड़े हैं), सम्बद्धता (ये सम्बन्ध किस दर्जे के हैं यानि कार्य से जुड़े या पास–पड़ोस से जुड़े) और समरूपता (सदस्य किस सीमा तक एक–दूसरे के समान हैं)। इसके आकलन में अन्य पहलू भी शामिल किए जा सकते हैं जैसे कि सम्पर्क की बारम्बारता, अन्योन्यता की सीमा और अवधि। सामाजिक नेटवर्क से लोगों को प्राप्त होने वाली विविध प्रकार की सहायता को सामाजिक सहयोग कहा गया है। इसे तीन अलग–अलग खण्डों में बांटा जा सकता है : साधनात्मक, भावनात्मक और सूचनात्मक सहयोग। साधनात्मक या साधन संबंधी सहयोग वह सहयोग है जो समाज के सदस्य अपने सामाजिक नेटवर्क से प्राप्त करते हैं जैसे कि नगद ऋण, श्रम आदि ठोस संसाधन। भावनात्मक सहयोग में कम प्रत्यक्ष लेकिन उतनी ही महत्वपूर्ण सहायता को शामिल किया गया है। इस सहयेाग से लोगों को महसूस होता है कि उनका भी कोई अपना है और उनसे प्रेम करता है (जैसे कि एक–दूसरे पर भरोसा करना, समस्याओं पर चर्चा करना)। सूचनात्मक सहयोग : स्वास्थ्य, खुराक के बारे में सलाह या कैन्सर की जांच की नई प्रणाली के बारे में नुस्खे जैसी बहुमूल्य सूचना के रूप में लोगों को मिलने वाली सहायता को सूचना सहयोग कहा गया है। सामाजिक नेटवर्क और सामाजिक सहयोग को आंकने के लिए अनेक सूत्र मौजूद हैं। इनमें से अनेक सूत्रों को मनोमति की कसौटी पर परीक्षण तथा पुनः परीक्षण से कसा जा चुका है और इन्हें विश्वसनीय पाया गया है एवं निष्कर्षों में अच्छी निरन्तरता देखी गई है। लेकिन इनकी यह कह कर आलोचना भी की जाती है कि इनमें सुस्थापित ''खरे मानकों'' की कमी है।

चूंकि वर्तमान में अलग–अलग मानकों का उपयोग किया जा रहा है, इसलिए विभिन्न अध्ययन–निष्कर्षों की तुलना करना कठिन है।

सामाजिक नेटवर्क/सामाजिक सहयोग तथा स्वास्थ्य का सम्बन्ध दो तरीकों से परस्पर है। पहला, कोई बड़ी बीमारी (व्यक्ति में एचआईवी या अवसाद जैसे गम्भीर रोग का पता लगना) सामाजिक नेटवर्क और सामाजिक सहयोग में बदलाव का सम्भावित कारण बन सकता है। अवसाद का एक विशेष लक्षण है कि व्यक्ति समाज से कटने लगता है, जबकि किसी व्यक्ति के एचआईवी से ग्रस्त होने का पता लगने पर उसके समाज के लोग उससे बचने की कोशिश करते हैं (इसका कारण इस रोग से जुड़ा कलंक है) या उसे सहयोग देने में जुट जाते हैं। दूसरा, सामाजिक नेटवर्क/सामाजिक सहयोग स्वास्थ्य निष्कर्षों पर एक साथ सकारात्मक और नकारात्मक दोनों प्रकार के प्रभाव डाल सकते हैं। उदाहरण के लिए यदि उस व्यक्ति के सामाजिक दायरे में इंजेक्शन द्वारा नशीले पदार्थ के लती लोग शामिल हैं तो यह नेटवर्क स्वास्थ्य–संवर्धन वाला नहीं होगा। इसी प्रकार गाली–गलौज करने वाले दम्पत्ति अथवा गाली–गलौच करने वाले माता–पिता नकारात्मक सामाजिक सहयोग का कारण बन सकते हैं। सामाजिक नेटवर्क/सामाजिक सहयोग तथा स्वास्थ्य के बीच सह–सम्बन्ध मिजाज (स्वभाव) अथवा व्यक्तित्व जैसा तीसरा परिवृत्य भ्रामक निष्कर्ष दर्शा सकता है ।

कारणात्मक निष्कर्षों में त्रुटियों (अन्तर्जातियता अथवा परिवर्त्य रूझान को शामिल न करने के कारण) से पार पाने का सबसे ठोस तरीका यह है कि नियंत्रित परिस्थितियों में यादृच्छ (रैण्डम) परीक्षण किए जाएं। लेकिन, अभी तक इस सामाजिक सहयोग प्रावधान के यादृच्छ परीक्षणों के मिले–जुले निष्कर्ष ही प्राप्त हुए हैं। उदाहरण के लिए, म्योकार्डियल इन्फैरैक्शन (राइटिंग कमेटी फॉर दी इएनआरआईसीएचडी इन्वेस्टीगेटर्स, 2003), स्ट्रोक (हृदयघात) तथा मेटास्टेटिक ब्रेस्ट कैंसर (गुडविन एट अल, 2001), जैसी गम्भीर बीमारियों के बाद हाल ही में बड़े पैमाने पर किए गए यादृच्छ परीक्षणों में नैदानिक निष्कर्षों (बेहतर उत्तरजीविता अथवा शारीरिक कार्यकरण में सुधार) के बारे में कोई लाभदायक प्रभाव प्राप्त नहीं हुए। लेकिन इन परीक्षणों के आधार पर यह कहना गलत होगा कि स्वास्थ्य पर सामाजिक सहयोग का कोई कारणात्मक प्रभाव नहीं पड़ता। उदाहरण के लिए, विशेष रूप से यह उल्लेख किया गया है कि सामाजिक सहयोग के बारे में पर्यवेक्षण (ऑब्जर्वेशन) सम्बन्धी ज्यादातर साक्ष्य स्वाभाविक रूप से बनने वाले नेटवर्कों से प्राप्त सहयोग को केन्द्र में रखते हैं जबकि अधिकांश सामाजिक सहयोग अजनबियों (अर्थात् मरीज को सहारा देने वाला समूह) के माध्यम से प्रदान करने के प्रयास किए जाते हैं (कोहेन एट एल, 2000)। इन परीक्षणों के माध्यम से किया गया ''उपचार (ट्रीटमेंट)'' हो सकता है कि, कम अवधि वाला और अपर्याप्त ''खुराक (डोज)'' वाला हो

और इसका प्रभाव नैदानिक–निष्कर्षों पर पड़ा हो। मूल सार यह है कि सामाजिक सहयोग को मजबूत करने (नैदानिक–निष्कर्षों को प्रभावित करने के लिए) वाले उपाय अभी तलाशे जाने हैं (कोहेन, एट अल, 2000)।

मैकेनिज्म (तंत्र व्यवस्था) के नजरिए से हालिया शोधों से पता चला है कि सम्बद्ध कारक (एफिलिएटिव) व्यवहार का एक आधार प्राणिशास्त्र में निहित है। एनिमल मॉडल्स माता के अपने शिशु के प्रति स्नेह और जोड़ों में रहने जैसे विभिन्न सामाजिक व्यवहार सहज बनाने में न्यूरोपेप्टाइड ऑक्सीटॉसिन की भूमिका की ओर इशारा करते हैं (जैक एट एल, 2004)। यह देखा गया है कि सामाजिक सहयोग और ऑक्सीटॉसिन दवा देने से जन–संबोधन (पब्लिक स्पीकिंग) की झिझक कम हुई है (हैनरिक एट एल, 2003)। न्यूरो–अर्थशास्त्र के उभरते क्षेत्र में, हाल ही में यह दिखाया गया कि नाक के द्वारा ऑकसीटॉसिन दवा शरीर में प्रवेश कराने पर लोगों में परस्पर विश्वास में काफी वृद्धि हुई और फलस्वरूप सामाजिक परिचर्चा के फायदों में काफी बढ़ोत्तरी हुई (कोसफेल्ड एट अल, 2005)। यदि ऑक्सीटॉसिन वास्तव में समाज के अनुकूल व्यवहार के लिए जिम्मेदार एक जैविक तत्व है, तो ये शुरूआती निष्कर्ष सामाजिक सहयोग और स्वास्थ्य के सह–सम्बन्ध में अनुवांशिक– पर्यावरण की पड़ताल करने के लिए परीक्षण तथा प्रयोगशाला– आधारित अध्ययनों की उम्मीद जगाते हैं।

सामाजिक नेटवर्क/सामाजिक सहयोग का स्वास्थ्य पर पड़ने वाले प्रभाव की जांच–पड़ताल सामुदायिक स्तर पर भी की जा सकती है। सामाजिक सहक्रिया का एक समृद्ध नेटवर्क होने की वजह से समुदाय तथा अन्य सामाजिक समूहों (जैसे कि कार्यस्थल) के सदस्यों को उपलब्ध संसाधनों को ''सामाजिक पूंजी'' की अवधारणा के रूप में परिभाषित किया गया है (कवाची एट अल, 2004)। सामाजिक पूंजी के आकलन में दो घटकों पर विशेष जोर दिया गया है। सामाजिक पूंजी के ढांचागत घटक में सह–सम्बद्धता सम्बन्धी कड़ियों (लिंक) की सीमा और प्रगाढ़ता तथा समाज में कार्य–कलाप (यानि नागरिक संस्थानों की संख्या, अनौचारिक सामाजिक स्नेहशीता के उपाय, नागरिक सहयोग के संकेतक) शामिल हैं। संज्ञानात्मक घटक, विश्वास, आदान–प्रदान और अन्योन्यता (रेसीप्रोकिटी) के बारे में लोगों की अवधारणा का आकलन करता है (हरफम एट अल., 2002)। अनेक बहुस्तरीय अध्ययनों में यह पाया गया है कि सामाजिक पूंजी के सामुदायिक स्टॉक और व्यक्ति–विशेष के स्वास्थ्य निष्कर्षों (जैसे कि मृत्यु दर स्व–आकलित (सेल्फ रेटेड) स्वास्थ्य, स्वास्थ्य से जुड़ी कुछ आदतें), व्यक्ति विशेष की सामाजार्थिक विशेषताओं के बीच एक सह–सम्बन्ध है (कवाची एट अल, 2004)। हालांकि, इस क्षेत्र में कार्य–कारण संबंध के बारे में अभी विवाद है (पर्सी एण्ड स्मिथ, 2003), लेकिन प्रतीत होता है कि ऐसे आधार मौजूद हैं जिनसे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि जो समुदाय सामाजिक रूप से जितना ज्यादा जुड़ा होगा (सामाजिक पूंजी का ज्यादा स्टॉक इसका सबूत है) वह अपने सदस्यों की स्वास्थ्य रक्षा में और अपने सदस्यों के पथ–विमुख व्यवहार यानि बच्चों द्वारा धूम्रपान, मदिरापान

को नियंत्रित करने में उतना ही ज्यादा सक्षम होगा और साथ ही परस्पर फायदे के लिए सामूहिक कदम (उदाहरण के लिए सामूहिक स्थलों पर धूम्रपान निषेध करने का आदेश) भी उठा सकेगा। इसलिए सम्भवतः सामाजिक पूंजी और सामाजिक जुड़ाव ''सामाजिक तथा सांस्कृतिक पर्यावरण या माहौल'' की महत्वपूर्ण विशेषताएं हैं जो अन्ततः स्वास्थ्य उपलब्धता के पैटर्न को प्रभावित करती हैं।

(vi)कार्य का मनोवैज्ञानिक माहौल और स्वास्थ्य : कार्य का मनोवैज्ञानिक माहौल, विशेषकर कार्य–संबंधित तनाव अनेक प्रकार के स्वास्थ्य–निष्कर्षों जैसे कि हृदय रोग, माशपेशियों की खराबी और मानसिक रोग आदि का कारण बन सकता है (मर्मोट और विल्किन्सन, 2006)। शोध कार्यों में कार्य से जुड़े तनाव के दो स्वरूपों (मॉडल) पर विशेष ध्यान दिया गया है : कार्य की मांग–नियंत्रण स्वरूप (कारसेक और थिओरेल, 2000) और प्रयास–पुरस्कार असंतुलन स्वरूप (सीगरिष्ट एट एल., 1986)। मांग नियंत्रण स्वरूप (मॉडल) बताता है कि उच्च मनोवैज्ञानिक और कम नियंत्रण (फैसले लेने और अपने कौशल का उपयोग करने का अधिकार न होना) श्रमिकों के लिए तनाव का कारण बनता है और यहीं से बीमारी (जैसा कि उच्च मानसिक तनाव और हृदय रोग) की शुरूआत होती है (मरमॉट और विल्किसन् 2006)। समुदाय आधारित अध्ययनों के लिए जॉब (कार्य) की मांग और जॉब नियंत्रण को मापने के लिए एक–एक प्रश्नावली तैयार कर ली गई है और इसकी विश्वसनीयता की पुष्टि भी हो चुकी है।

कार्य–तनाव के मांग–नियंत्रण मॉडल के विपरीत, सीग्रिस्ट द्वारा विकसित प्रयास–पुरस्कार असंतुलन मॉडल कहता है कि यदि कार्य से जुड़ी लागत (उच्च स्तर के प्रयास) के अनुरूप पुरस्कार (नगद राशि, प्रोत्साहन और कैरियर में प्रगति के अवसर) न हों तो कार्य के ऐसे हालात स्वास्थ्य निष्कर्षों पर विपरीत प्रभाव डालते हैं (सीग्रिस्ट एट अल, 1986)। जॉब डिमान्ड मॉडल (कार्य–मांग मॉडल) की तरह ही इसके लिए भी एक विश्वनीय प्रश्नावली तैयार कर ली गई है। जॉब–डिमान्ड मॉडल और एफर्ट–रिवार्ड इम्बैलेन्स मॉडल (प्रयास–पुरस्कार असंतुलन मॉडल) दोनों से ही यह पता लगा है कि अलग–अलग देशों में किए गए सर्वेक्षणों से हृदय रोग तथा अन्य स्वास्थ्य निष्कर्षों का पूर्वानुमान लगाया जा सकता है।

कार्य–तनाव और स्वास्थ्य के बीच संबंध अन्योन्याश्रित (रिसीप्रोकल) होता है। लेकिन, उदाहरण के लिए, बीमारी के गुप्त लक्षण नजर आने पर श्रमिक कम तनाव वाले कार्य को चुन सकता है। सैद्धान्तिक रूप से समय–समय पर अलग–अलग देशों में श्रमिकों का सावधानीपूर्वक अनेक बार आकलन करके इस मुद्दे को सुलझाया जा सकता है। वही दूसरी तरफ, इस क्षेत्र में अन्य परिव्रत्यों के रूझान की अनदेखी से कारणात्मक निष्कर्षों में त्रुटियां समस्या पैदा कर सकती हैं। उदाहरण के लिए, कुछ लोग अपने मिजाज, व्यक्तित्व और अड़ियलपन के आधार पर पेशे का चयन करते हैं, वहीं अन्य लोग इन्हीं कारणों की वजह से

कम तनाव वाला कार्य चुनते हैं। यदि इस तीसरे परिपृत्य की अनदेखी की जाएगी तो स्वास्थ्य–निष्कर्षों पर कार्य की मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों के प्रभाव का आकलन त्रुटिपूर्ण होगा। इसलिये कार्य की मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों के बारे में भावी शोध कार्यों में इन परिपृत्यों पर नियंत्रण के साथ व्यक्ति विशेष की विरासतीय विशेषताओं और कार्य की मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों के बीच संभावित परस्पर–क्रिया की जांच की जानी चाहिए तभी स्वास्थ्य और बीमारी के अलग–अलग पैटर्न तय किए जा सकेंगे।

(vii) असामाजिक माहौल (पर्यावरण) द्वारा प्रभावित स्वास्थ्य के पहलू : सम्भवतः सामाजिक परिवृत्य निदान शास्त्र के सम्पूर्ण क्षेत्र में स्वास्थ्य–निष्कर्षों को प्रभावित करते हैं : रोग के जड़ जमाने (प्रसव–पूर्व से प्रारम्भ होकर पूरे जीवन काल में अपना प्रभाव बढ़ाते हुए) से लेकर शनैः–शनैः विकराल रूप लेते हुए, उत्तरजीविता (बीमारी के बाद बच जाना) तक। रोग की वृद्धि के दौरान प्रत्येक चरण में, सामाजिक परिवृत्य अलग–अलग तरीके से स्वास्थ्य–निष्कर्षों को प्रभावित कर सकते हैं। रोग प्रारम्भ होने से पहले, सामाजिक परिवृत्य माता–पिता के माध्यम से संक्रमण के जोखिम, स्वास्थ्य के लिए हानिकारक अथवा लाभदायक आदतें अपनाने या विपरीत परिस्थितियों से समायोजन की क्षमता आदि को प्रभावित कर सकते हैं। रोग लग जाने के बाद, सामाजिक परिवृत्यु उपचार तक अलग–अलग पहुंच, उपचार जारी रखने, समायोजक व्यवहार के जरिए अथवा प्रतिरक्षण–निगरानी और कोशिकाओं की मरम्मत क्षमता पर सीधा प्रभाव डाल कर रोग बढ़ने (या रोग ठीक होने) की दर निर्धारित कर सकते हैं।

यहां यह ध्यान रखना महत्वपूर्ण होगा कि सामाजिक–पर्यावरण के परिवृत्य और स्वास्थ्य–निष्कर्षों के बीच सह–सम्बन्ध रोग प्रक्रिया के विभिन्न चरणों में अलग–अलग हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, स्तन कैंसर और मेलानोभा जैसे कैंसर की घटनाएं सामाजार्थिक रूप से सम्पन्न लोगों में ज्यादा पाई गई है। जो इस समूह में निहित जोखिम कारकों का सामाजार्थिक वितरण दर्शाता है। स्तन कैंसर के मामले में, सामाजार्थिक रूप से सम्पन्न महिलाओं में इस रोग की अधिकता को आंशिक रूप से इस तरह समझा जा सकता है कि इस समूह में मासिक धर्म कम उम्र में शुरू हो जाता है, अधिक उम्र में पहला प्रसव होता है और उर्वरता दर कम होती है। वहीं दूसरी तरफ, कैंसर का निदान होने के बाद उत्तरजीविता दर भी सामाजार्थिक रूप से सम्पन्न महिलाओं में ज्यादा है, इसका कारण है– कैंसर का शुरूआती चरण में ही पता लग जाना और बेहतर इलाज (लोचनर और कवाची, 2000)। इसी प्रकार पर्यवेक्षण (ऑब्जर्वेशन) द्वारा जुटाए गए सबूत कहते हैं कि बड़ी बीमारी के बाद उत्तरजीविता तथा कार्य–करण संबंधी बेहतर स्वास्थ्य लाभ में सामाजिक सहयोग की मजबूत भूमिका होती है, लेकिन बीमारी के आपतन इन्सीडेंस) को रोकने में इसकी भूमिका से जुड़े तथ्य अपेक्षाकृत एक जैसे नहीं हैं (जहां सामाजिक नेटवर्क की भूमिका अपेक्षाकृत ज्यादा मजबूत होती है।) (सीमैन, 1998)।

जीवनकाल के दौरान ऐसे भी अहम चरण हो सकते हैं, जब वृद्धावस्था में स्वास्थ्य–निष्कर्षों पर सामाजिक पर्यावरण का ज्यादा प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए, बार्कर का सिद्धान्त, कोरोनेरी हृदय रोग और कुछ प्रकार के कैंसरों के लिए प्रसवपूर्व अवधि को ज्यादा जिम्मेदार मानता है (बार्कर और बैगबी, 2005)। इसके अलावा, सामाजिक–पर्यावरणीय परिस्थितियां जीवनकाल के दौरान सघन होती चली जाती हैं। उदाहरण के लिए निरन्तर गरीबी, कभी गरीबी तो कभी गरीबी से बाहर की स्थिति की तुलना स्वास्थ्य के लिए ज्यादा हानिकारक होती है। इसलिए स्वास्थ्य के पैटर्न को समझने के लिए सामाजिक परिवृत्यों के परिवर्तनशील पक्षों का अध्ययन करना और भी रोचक होगा। अन्ततः सामाजिक–पर्यावरण से जुड़ी परिस्थितियां बार–बार पैदा हो सकती हैं क्योंकि माता–पिता अपनी असुविधाएं अपने बच्चों को दे जाते हैं। उदाहरण के लिए, गरीब परिवारों में बीमार बच्चे होने की ज्यादा संभावना होती है (कटलर और लेरस–म्यूनी, 2006)। बचपन की बीमारी आगे चल कर पीड़ित बच्चे की शैक्षिक तथा व्यवसायगत गतिशीलता (मोबिलिटी) को प्रभावित कर सकती हैं। बीमारी के जोखिम को पीढ़ी दर पीढ़ी आगे बढ़ाने और प्रसारित करने के मामले में, यह सामाजिक तंत्र (मैकेनिज्म) अनुवांशिक तंत्र से हट कर है। हो सकता है कि ये दोनों तंत्र पूरे जीवनकाल के दौरान स्वास्थ्य के पैटर्न को ढालने में परस्पर–क्रिया करते हों।

3.4 सारांश

इकाई के अध्ययन के पश्चात् हम स्वास्थ्य को प्रभावित करने वाले विभिन्न सामाजिक, आर्थिक व सांस्कृतिक कारकों से परिचित हो चुके हैं हम जान चुके हैं कि विभिन्न सामाजार्थिक कारण जैसे व्यक्तियों का शैक्षिक स्तर, उनका पेशा या रोजगार, उनकी आय, उनका सामाजिक नेटवर्क तथा सामाजिक सहयोग, पेशा या कार्य का मनोवैज्ञानिक माहौल इत्यादि अनेक कारक व वैरिएबल्स हैं, जो सभी किसी न किसी रूप में स्वास्थ्य हेतु उत्तरदायी होते हैं।

3.5 शब्दावली

1. **परिवर्ती (Veriables):** सामुदाय में स्वास्थ्य हेतु विभिन्न सामाजिक, आर्थिक व सांस्कृतिक कारकों के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के परिवर्ती हैं, जो कि स्वास्थ्य हेतु उत्तरदायी हो सकते हैं। सामाजिक व सांस्कृतिक परिवर्ती (Veriable) जिन संदर्भों में स्वास्थ्य सम्बन्धी निष्कर्षों को प्रभावित करने के लिए उत्तरदायी हैं, मूलतः इसे सामाजिक व सांस्कृतिक पर्यावरण कहा जाता है।

2. **सामाजिक नेटवर्क (Social-Network):** व्यक्ति केन्द्रित सामाजिक सम्बन्धों के जाल को सामाजिक नेटवर्क कहा जाता है। सामाजिक नेटवर्क से लोगों को प्राप्त होने वाली विभिन्न प्रकार की सहायता को सामाजिक सहयोग कहा गया है। सामाजिक नेटवर्क मजबूत होने पर सामुदाय के स्वास्थ्य में धनात्मक प्रभाव पड़ता है।

3.6 अभ्यास प्रश्न

1. समाज विज्ञानों में एसईएस (सामाजार्थिक स्तर) को कितने संकेतकों से मापा जाता है?
   (अ) 2 (ब) 5 (स) 3 (द) 4
2. शैक्षिक योग्यता को मापने के लिए मुख्यतः कितने प्रश्न पूछे जाते हैं?
   (अ) 3 (ब) 2 (स) 4 (द) 5
3. 'सुरक्षित सामाजिक अनुरक्ति केवल भोजन, स्नेह और अन्य भौतिक संसाधनों के लिए ही नहीं बल्कि प्रेम/सुरक्षा तथा मानव के सामान्य विकास के लिए आवश्यक अन्य अभौतिक संसाधनों के लिए भी जरूरी है' किसने कहा है?
   (अ) बर्कमैन (ब) दुर्खीम (स) पारकिंशन (द) जॉन बाउलवी
4. कार्य सम्बन्धित तनाव अनेक प्रकार के स्वास्थ्य निष्कर्षों जिसे कि हृदय रोग, मांशपेशियों की खराबी और मानसिक रोग आदि का कारण बन सकता है। किसने यह निष्कर्ष निकाला?
   (अ) मर्मोट एवं बिल्किसन (ब) सीगारिष्ठ एट एल
   (स) कारसेक एवं थिऔरेल (द) उपरोक्त में से कोई नहीं

अभ्यास प्रश्नों के उत्तर :

1. स 2. ब 3. द 4. अ

3.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. एडलर एन, एट एल, सोसियोइकोमिक स्टेट्स एण्ड हैल्थ : द चैलेंजेस ऑफ डिग्रेडियेंट्स. अमेरिकन साइकोलोजिस्ट, 1994; 49 (1) : 15–24
2. एटोनोवस्की ए., सोसियल क्लास, लाइफ एक्सपेंटेंसी एण्ड ओवरआल मोर्टेलिटी. मिलबैंक मेमोरियल फंड, क्वाटरली 1967; 45 (2) : 31–73
3. बर्कमैन एल, कवाची आई, एडीटर्स. सोसियल इंपिडिमियोलॉजी, न्यूयार्क, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2000
4. बर्कमैन एल, मैकिनटायर एस, दि मेजरमेंट ऑफ सोसियल क्लास इन हैल्थ स्टेडीज : ओल्ड मीजर्स एण्ड न्यू फोरमूलेशन्स. इन कांगविहास एम, पियर्स एन, सूसर एम, लॉफेटा पी. (एडीटर्स) सोशल इक्यिलिटीज एण्ड कैंसर, लियोन फ्रांस : आईएआरसी, साइंटिफिक पब्लिकेशन्स, नं. 138 : 1997 पी. पी. 31–64

5. बुरगार्ड एस, स्टीवर्ट जे स्वावाटेज जे, आक्यूपेशनल स्टेटस, सानफ्रासिस्को, सीए : मेकार्थर नेटवर्क ऑन एस.ई.एस. एण्ड हैल्थ, 2003

6. कोहेन एस, अंडरवुड एलजी, गोटफिन सीएच, सोसियल सपोर्ट मीजरमैन्ट एण्ड इंटरवेन्शन, न्यूयार्क : आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2000

7. कवाची आई बर्कमैन एल. सोसियल टाइज एण्ड मैंटल हैल्थ, जरनल ऑफ अर्बन हैल्थ, 2001 : 78 (3) : 458–467

8. लिंच जे, काप्लान जी, सोसियो इकोनोमिक पोजिशन इन : बर्कमैन एल, कवाची आई (एडिटर्स) सोसियल इपिडिमियोलॉजी, न्यूयार्क आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2000, पृ0 13–35

9. मारमोट एम, रिफ सीडी, वमपास, एलएल, सिफले एम, मार्क्स एनएफ. सोसियल इन इक्यूलिटीज इन हैल्थ : नेक्स्ट क्वश्चन्स एण्ड कनवर्जिग इविडेंस. सोसियल साइंस एण्ड मैडिसिन, 1997; 44 (6) : 901–910

10. सीगारिस्ट जे, सीगारिस्ट के., वेबर आई ; सोसियोलोजिकल कान्सेप्टस इण्ड इंटियोलॉजी ऑफ क्रोनिक डीजिजेस : द केस ऑफ इस्केमिक हार्ट डिजिज. सोसियल साइंस एण्ड मेडिसिन. 1986 ; 22 (2) : 247–253

11. सुब्रमनियन एसबी, कवाची आई. इन्कम इन्इक्यूटी एण्ड हैल्थ : ह्वाट हेव वी लर्न सो फॉर? इपिडिमियोलोजिकल रिव्यूज. 2004 ; 26 : 78–91

3.8 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. बर्कमैन एल, ग्लास टी. सोसियल इंटीग्रेसन; सोसियल नेटवर्क्स सोसियल सपोर्ट एण्ड हैल्थ इन बर्कमैन एल, कवाची आई (एडिटर्स) सोसियल इपिडिमियोलॉजी न्यूयार्क : आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटीः 2000

2. कवाची आई, बर्कमैन एल एफ. नेबरहुड एण्ड हैल्थ. न्यूयार्क, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2003

3. मारमोट एमजी, बिलकिन्सन आरडी (एडिटर्स), सोसियल डिटरमिनेंट्स ऑफ हैल्थ : आक्सफोर्ड, इंग्लैण्ड : आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2006

3.9 निबंधात्मक प्रश्न

1. सामाजार्थिक और सांस्कृतिक वैरिएबल्स को स्पष्ट कीजिए?

2. सामाजिक एवं सांस्कृतिक वैरिएबल्स का स्वास्थ्य पर पड़ने वाले प्रभाव को उदाहरण सहित समझाईये?

3. सामाजिक नेटवर्क, सामाजिक सहयोग एवं स्वास्थ्य के परस्पर सम्बन्ध पर प्रकाश डालिए?

4. कार्य का मनोवैज्ञानिक माहौल तथा स्वास्थ्य पर इसके प्रभाव पर टिप्पणी कीजिए?

इकाई 4:सामाजिक मरक-विज्ञान (संक्रामक रोग–विज्ञान) और स्वास्थ्य स्तर
(Social Epidemiology and Health Status)

इकाई की रूपरेखा (Outline of Unit)

4.1: उद्देश्य

4.2: प्रस्तावना

4.3 सामाजिक मरक–विज्ञान का विकास

(i) परिभाषा

(ii) रोग–बारम्बारता

(iii) रोग–प्रसार या वितरण

(iv) रोग के निर्धारक

4.4: आपतन

4.5: व्यापकता

4.6: संक्रामक रोग–विज्ञान संबंधी पद्धतियां

4.7: विवरणात्मक संक्रामक रोग विज्ञान

4.8: विश्लेषणात्मक संक्रामक रोग विज्ञान

4.9: स्वास्थ्य स्तर

4.10: भारत में स्वास्थ्य स्तर

4.11: आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था

4.11.1: आर्थिक व्यवस्था

4.11.2: राजनीतिक व्यवस्था

4.12: शब्दावली

4.13: अभ्यास प्रश्न

4.14: संदर्भ ग्रन्थ सूची

4.15: सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

4.16: निबंधात्मक प्रश्न

4.1 उद्देश्य

इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप;

1. सामाजिक मरक–विज्ञान (संक्रामक रोग विज्ञान) के विकास व परिभाषा से अवगत होंगे।
2. सामाजिक मरक–विज्ञान की विषय वस्तु को जान पायेंग।
3. आपतन (Incidence) को समझ सकेंगे तथा इसके उपयोग के बारे में जान पायेंगे।
4. व्याप्कता (Prevalence) को समझ सकेंगे तथा आपतन व व्याप्कता के बीच सम्बन्ध से भी अवगत होंगे।
5. विवरणात्मक व विश्लेषणात्मक संक्रामक रोग विज्ञान के अध्ययन के विभिन्न अवयवों को समझ सकेंगे।

4.2 प्रस्तावना

सामाजिक मरक रोग विज्ञान को संक्रामक रोग विज्ञान की उस शाखा के रूप में परिभाषित किया गया है, जो स्वास्थ्य के सामाजिक प्रसार और सामाजिक निर्धारकों का अध्ययन करती है (बर्कमैन और कवाची, 2000) चूंकि सामाजिक सम्बन्धों के संदर्भ में मानव जीवन के सभी पहलू परस्पर गुथे हुए हैं, इसलिए सभी कल्पनीय संक्रामक रोग, जिनके सम्पर्क में मनुष्य आ सकता है, सामाजिक कारकों से जुड़े हैं। इस व्यापक अर्थ में, सभी संक्रामक रोग सामाजिक संक्रामक रोग है (कॉफमैन और कूपर, 1999), लेकिन सामाजिक संक्रामक– रोग विज्ञान विषय स्वास्थ्य के निर्धारकों का सुस्पष्ट विश्लेषण करता है।

यह विचार कि सामाजिक परिस्थितियां स्वास्थ्य को प्रभावित करती हैं, नया नहीं है। चाडविक क्लिन ने 1965 में श्रमिक वर्ग की अस्वच्छ परिस्थितियों के बारे में लिखा था और बताया कि सघन आबादी, उमस और गंदगी किस प्रकार उनकी कम उत्तरजीविता (कम आयु) का कारण बन रही है। दुरखीम (1996) ने बताया कि सामाजिक मानदण्ड और परिस्थितियां जनसाधारण में आत्महत्या के जोखिम को प्रभावित करती हैं। सामाजिक मरक विज्ञान शोध के लिए नए–नए प्रश्न उठाकर, इन अध्ययनों के आधार पर अपना विकास और विस्तार करता है। शोध के नए तरीकों का उपयोग करता है और सरकार के नीतिगत एजेंडे को प्रभावित करता है।

4.3 सामाजिक मरक–विज्ञान (संक्रामक रोग–विज्ञान) का विकास

मरक विज्ञान 19वीं शताब्दी में अस्तित्व में आया था। इसका श्रेय उन शास्त्रीय अध्ययनों को जाता है, जिन्होंने जीवन-रक्षा में प्रमुख योगदान दिया था। उल्लेख मिलता है कि अर्ल ऑफ शैफ्टेसबरी की अध्यक्षता में, 1850 में लन्दन में एपिडेमियोलॉजिकल सोसायटी का गठन किया गया था। जीवाणु–विज्ञान के त्वरित विकास ने विश्वविद्यालयों में संक्रामक रोग–विज्ञान को विकसित नहीं होने दिया।

संयुक्त राज्य अमरीका में, हालांकि मरक विज्ञान (संक्रामक रोग–विज्ञान) को विभाग का दर्जा नहीं मिला था, लेकिन विनस्लॉ और सेगविक ने छात्राों को यह विषय पढ़ाया था। 1927 में, अमरीका में डब्ल्यू.एच फ्रॉस्ट संक्रामक रोग–विज्ञान के पहले प्रोफेसर बने। बाद में लन्दन विश्वविद्यलाय में मेजर ग्रीन वुड संक्रामक रोग विज्ञान के पहले प्रोफेसर बने।मरक रोग–विज्ञान अथवा संक्रामक रोग–विज्ञान का पिछले कुछ दशकों में तेजी से विकास हुआ है। अब यह पुख्ता तौर चिकित्सा विज्ञान का एक अंग बन गया है। हिपीक्रेट्स से लेकर आज तक, इस विषय के जितने भी विद्वान हुए हैं, सभी ने इसकी अलग–अलग परिभाषा दी है। इनकी एक संक्षिप्त सूची नीचे दी गई है :

1. चिकित्सा–विज्ञान की वह शाखा, जो संक्रामक रोगों का उपचार करती है ।
   (पार्किन, 1873)

2. संक्रामक रोगों की व्यापक घटना का विज्ञान है ।
   (फ्रॉस्ट, 1927)
3. कोई भी रोग जो व्यापक रूप से घटित हो, का अध्ययन है ।
   (ग्रीन वुड, 1934)
4. मनुष्यों में रोग–बारम्बरता का प्रसार और इसके कारणों (निर्धारणों) का अध्ययन है । **(मैकमोहन, 1960)**

(i) परिभाषा :

जॉन एम. लास्ट ने संक्रामक रोग विज्ञान को इस प्रकार परिभाषित किया है :

''किसी विशिष्ट जन-समुदाय में स्वास्थ्य से संबंधित अवस्थाओं अथवा घटनाओं का प्रसार तथा इसके निर्धारकों का अध्ययन और इस अध्ययन का स्वास्थ्य नियंत्रण में अनुप्रयोग''

संक्रामक रोग की ये विविध परिभाषाएं इस विषय वस्तु के व्यापक दायरे का परिचय देती हैं। इस विषय–वस्तु में उन रोगों को शामिल किया गया है जो महामारी के रूप में फैलते हैं तथा जिनकी प्रकृति संक्रामक है। अभी हाल ही में पुराने रोगों (क्रॉनिक डिसीज) और मानसिक स्वास्थ्य को भी इसमें शामिल कर लिया गया है। आधुनिक मरक–रोग विज्ञान के दायरे में स्वास्थ्य से जुड़ी अवस्थाओं, घटनाओं और जन–समुदाय में घटित ''जीवन–तथ्यों'' को भी ला दिया गया है। इसमें जन–साधारण द्वारा इस्तेमाल की जाने वाली स्वास्थ्य सेवाओं का अध्ययन, इनके प्रभाव–आकलन के तरीके शामिल हैं। सार्वजनिक स्वास्थ्य की तरह ही, संक्रामक रोग–विज्ञान, बहुधा व्यक्ति–विशेष के स्वास्थ्य की बजाय समग्र समाज के स्वास्थ्य से ज्यादा संबंधित है।

हालांकि ऐसी कोई भी एक परिभाषा नहीं है जिस पर सभी मरक रोग–विज्ञानी सहमत हों। लेकिन तीन घटक सभी में एक जैसे हैं। पहला– रोग की बारम्बारता का अध्ययन, दूसरा– वितरण या प्रसार का अध्ययन, और तीसरा– निर्धारकों का अध्ययन। इनमें से प्रत्येक घटक एक महत्वपूर्ण संदेश देता है।

(ii) रोग–बारम्बारता :

संक्रामक रोग विज्ञान में बारम्बरता, विकलांगता अथवा मृत्यु, दर और अनुपात के रूप में (जैसे कि व्याप्तता दर, आपतन दर, मृत्यु दर आदि) इस सूचना का सार–संक्षेप अन्तर्निहित है। अतः रोग की बारम्बारता का पैमाना दर या अनुपात है। ये दर या अनुपात सम्भावित कारणात्मक कारकों के सम्बन्ध में अलग–अलग जन समुदायों अथवा इसी समुदाय के उप–समूहों में रोग की बारम्बारता की तुलना के लिए जरुरी हैं। इस प्रकार की तुलनाओं से रोग के कारकों के बारे में महत्वपूर्ण जानकारी मिल सकती है। स्वास्थ्य समस्याओं पर नियंत्रण अथवा इनकी रोकथाम के लिए कार्यनीतियां बनाने की दिशा में यह एक महत्वपूर्ण कदम है।

संक्रामक रोग विज्ञान का सामुदायिक स्वास्थ्य के स्तर और स्वास्थ्य से संबंधित घटनाओं के आकलन (यानि स्वास्थ्य– आवश्यकताओं, मांग, कार्यकलाप, स्वास्थ्य देखभाल सेवाओं के उपयोग आदि का आकलन) और रक्तचाप, सीरम कोलेस्ट्रोल, लम्बाई, वजन आदि परिवृत्यों के साथ भी यही सरोकार है। इस रूप में, संक्रामक रोग विज्ञान मात्रात्मक विज्ञान की खूबियां रखता है। रोग तथा स्वास्थ्य–संबंधित घटनाक्रमों के आकलन से जुड़ी अधिकांश विषय–वस्तु जैव–सांख्यिकी के कार्यक्षेत्र में आती है, जो संक्रामक रोग विज्ञान का बुनियादी साधन है।

(iii) रोग–प्रसार या वितरण :

यह सभी जानते हैं कि मनुष्यों में सभी का स्वास्थ्य एक समान नहीं होता या एक समान रोगी नहीं होते। संक्रामक रोग– विज्ञान का बुनियादी सिद्धान्त यह है कि किसी समुदाय में रोग के प्रसार या वितरण का एक पैटर्न होता है और यह कि ये पैटर्न कारक संबंधी परिकल्पला को जन्म दे सकता है।

संक्रामक रोग विज्ञान का एक महत्वपूर्ण कार्य समय, स्थान और व्यक्ति के अनुसार जनसमुदाय के विभिन्न उप–समूहों में इस वितरण पैटर्न का अध्ययन करना है। यानि, संक्रामक रोग विज्ञानी यह पता लगाता है कि एक निश्चित समयावधि में रेाग बढ़ा है या घटा है, क्या अन्य भौगोलिक क्षेत्रों की तुलना में किसी खास भौगोलिक क्षेत्र में रोग की प्रचण्डता ज्यादा है, क्या रोग ज्यादातर पुरुषों या किसी खास आयु–वर्ग में ज्यादा होता है, और क्या रोग से ग्रस्त व्यक्तियों का व्यवहार उन व्यक्तियों से भिन्न है, जो रोग–ग्रस्त नहीं है। संक्रामक रोग विज्ञान इन अन्तरों अथवा पैटर्न का अध्ययन करता है, जो रोग के नियंत्रण अथवा रोकथाम के उपाय सुझा सकते हैं। इस अध्ययन का एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष कारण–विज्ञान परिकल्पना या सिद्धान्त तैयार करना है। संक्रामक रोग विज्ञान के इस पहलू को ''व्याख्यात्मक संक्रामक रोग विज्ञान'' कहते हैं।

(iv) रोग के निर्धारक :

संक्रामक रोग विज्ञान की एक खास विशेषता है कि यह कारक विज्ञान की परिकल्पना का परीक्षण करता है और बीमारी के निहित कारणों (अथवा जोखिम कारकों) का पता लगाता है। इसके संक्रामक रोग सम्बन्धी सिद्धान्तों और पद्धतियों का उपयोग करना होता है। संक्रामक रोग विज्ञान के इस पहलू को ''विश्लेषणात्मक संक्रामक रोग–विज्ञान'' कहते हैं। विश्लेषणात्मक कार्यनीतियों से वैज्ञानिक रूप से पुष्ट स्वास्थ्य– कार्यक्रम, उपाय, नीतियां तैयार करने में मदद मिलती है। हालिया वर्षों में, विश्लेषणात्मक अध्ययनों से फेफड़ों के कैन्सर और हृदय–धमनी रोग जैसी क्रॉनिक बीमारियों के निर्धारकों या कारणों को समझने में बहुत सहायता मिली है।

4.4 आपतन (Incidence) :

आपतन को ''एक विशिष्ट समय–काल के दौरान किसी निर्धारित जनसमुदाय में रोग के नए मामलों'' की दर के रूप में परिभाषित किया गया है। इसका फार्मूला (सूत्र) इस प्रकार है :–

एक निर्धारित समय काल में किसी विशिष्ट रोग के नए मामलों की संख्या

आपतन = निर्धारित अवधि के दौरान रोग के जोखिम में शामिल × 1000 आबादी

उदाहरण के लिए, 30,000 आबादी वाले किसी जन समुदाय में एक वर्ष में रोग के 500 नए मामले सामने आए हैं ता आपतन दर होगी– 500 / 30,000 × 1000 = 16.7 प्रति 1000 प्रतिवर्ष।

टिप्पणी : अन्तिम रूप से आपतन दर अभिव्यक्त करते वक्त समय की इकाई अवश्य शामिल की जानी चाहिए।

उपरोक्त परिभाषा से देखा जा सकता है कि आपतन निम्नलिखित का संदर्भ देती है :–

(क) केवल नए मामले

(ख) एक निर्धारित अवधि के दौरान (आमतौर पर एक वर्ष)

(ग) एक विशिष्ट आबादी अथवा ''जोखिमग्रस्त आबादी'', जब तक अन्य निर्धारक न तय कर लिए हों।

(घ) यह प्रति 1000 आबादी में एक निर्धारित अवधि के दौरान रोग की नई घटनाओं अथवा नए चक्र को भी संदर्भित कर सकती है।

उदाहरण के लिए, किसी व्यक्ति को वर्ष में दो बार सामान्य सर्दी–जुखाम हो सकता है। यदि वह दो बार पीड़ित हुआ है, तो यह कहा जाएगा कि उसने वर्ष के दौरान बीमारी के दो चक्रों या घटनाओं का योगदान दिया है। इस मामले में आपतन दर (चक्र) = एक निर्धारित अवधि के दौरान बीमारी शुरू होने के चक्रों की संख्या, इस अवधि के दौरान जोखिम ग्रस्त होने वाले व्यक्तियों की संख्या का माध्य (मीन) × 1000। आपतन किसी जनसमुदाय में रोग के नए मामले घटित होने की दर का आकलन करता है। रोग की अवधि इसे प्रभावित नहीं करती है। अपतन का उपयोग आमतौर पर केवल रोग की गम्भीर हालातों में ही किया जाता है।

4.4.1आपतन (इन्सीडेंस) दर का उपयोगः

स्वास्थ्य संकेतक के रूप में, आपतन दर (क) बीमारियों के नियंत्रण, और (ख) रोग कारकता, रोग मूलकता, रोग के प्रसार तथा रोकथाम तथा उपचार संबंधी उपायों की कारगरता की जांच एवं शोध हेतु कार्रवाई के लिए उपयोगी होती है। उदाहरण के लिए, यदि आपतन दर बढ़ रही है तो यह वर्तमान नियंत्रण या रोकथाम कार्यक्रम की असफलता अथवा असरहीनता या रिपोर्टिंग तौर–तरीकों में सुधार का संकेत हो सकती है। रोग की आपतन दर में बदलाव या उतार–चढ़ाव का मतलब, बीमारी के कारकों में बदलाव यानि

वाहक (एजेंट), रोग का घर (होस्ट) और पर्यावरणीय विशेषताओं में बदलाव भी हो सकता है। अलग–अलग सामाजार्थिक समूहों और भौगोलिक क्षेत्रों से प्राप्त आपतन दरों में अन्तर के विश्लेषण से प्रदत्त स्वास्थ्य–सेवाओं की कारगरता के बारे में महवत्पूर्ण जानकारी मिल सकती है।

4.5 व्यापकता (Prevalence)

''रोग व्यापकता'' शब्द किसी विशिष्ट जनसमुदाय में किसी निर्धारित समय में अथवा समयावधि के दौरान सभी मौजूदा मामलों (पुराने और नए) को संदर्भित करता है। व्यापकता की व्यापक परिभाषा इस प्रकार है– किसी खास समय–काल में (अथवा खास अवधि के दौरान) रोग के लक्षण रखने वाले या रोगग्रस्त लोगों की कुल संख्या को उसी अवधि के दौरान या रोग की मध्यावधि के दौरान रोग के लक्षण प्रकट होने के जोखिम या रोगग्रस्त होने की संभावना वाली जनसंख्या से विभाजित करके व्यापकता की गणना की जाती है। हालांकि इसे दर के रूप में व्यक्त किया जाता है, लेकिन व्यापकता दर वास्तव में अनुपात है। व्यापकता दो प्रकार की होती है :–

(क) समय–बिन्दु व्यापकता

(ख) समय बिन्दु व्यापकता

4.5.1 समय बिन्दु व्यापकता : किसी रोग की समय बिन्दु व्यापकता को किसी एक समया बिन्दु (समय–काल) पर सभी वर्तमान मामलों (रोगियों पुराने या नए) की संख्या के रूप में परिभाषित किया गया है। यहां जो ''बिन्दु'' शब्द का उपयोग किया जा रहा है। वह एक दिन ''अनेक दिन'' अथवा ''कुछ सप्ताह'' भी हो सकता है। यह समय बिन्दु निर्धारण इस बात पर निर्भर करेगा कि जन–समुदाय के प्रतिदर्श या नमूना के परीक्षण में कितना समय लगा। समय–बिन्दु व्यापकता का फार्मूला (सूत्र) यह है– एक निर्धारित समय–बिन्दु पर किसी विशिष्ट रोगग्रस्त व्यक्तियों (पुराने ओर नए दोनों) की संख्या × 100। उसी समय बिन्दु पर जनसमुदाय की कुल अनुमानित आबादी को ध्यान में रखते हुए, जब ''व्यापकता दर'' वाक्यांश का बिना किसी अन्य खासियत या कारण'' बताए उपयोग किया जाए तो इसे ''समय बिन्दु'' माध्य (मीन) के रूप में माना जाएगा।

यह समय बिन्दु व्यापकता आयु, लिंग और अन्य संगत कारकों अथवा लक्षणों के अनुसार विशिष्ट हो सकती है।

4.5.2 समयावधि व्यापकता : यह एक अपेक्षाकृत कम उपयोग किया जाने वाला तरीका है। यह निर्धारित अवधि (यानि वार्षिक व्यापकता) के दौरान सभी वर्तमान मामलों यानि रोगियों (पुराने और नए) की बारम्बरता का आकलन करता है। इसे निर्धारित जन–समुदाय के संदर्भ में व्यक्त किया जाता है। इसमें वे सभी मामले शामिल हैं जो पहले से मौजूद थे लेकिन निर्धारित वर्ष में नए मामले सामने आए। समयावधि व्यापकता का फार्मूला इस प्रकार है :–

किसी निर्धारित समयावधि अन्तराल के दौरान मौजूदा मामलों (पुराने और नए) की संख्या × 100
मध्यान्तर के दौरान जोखिम संभावित जनसंख्या का अनुमान

4.5.3 आपतन और व्यापकता के बीच सम्बन्ध :

व्यापकता दर की अपनी सीमाएं होती हैं, इसे ध्यान में रखा जाना चाहिए। यह बीमारी के कारक– विज्ञान या कारणों का अध्ययन करने के लिए एक आदर्श तरीका नहीं है। हमने देखा है कि आपतन और अवधि ये दो कारक रोग की व्याप्तता तय करते हैं। आपतन रोग होने जुड़ा है जबकि अवधि उन कारकों से जुड़ी है जो रोग के दौरान उसकी प्रगति (कोर्स) को प्रभावित करते हैं। दूसरे शब्दों में अवधि के घटक प्रगतिकारक कारणों को दर्शाते हैं और आपतन कारण संबंधी घटकों को दर्शाते हैं इसलिए कारक–विज्ञान की परिकल्पना के परीक्षण और फॉर्म्यूलेशन (सूत्रीकरण) में आपतन दर का ईष्टतम उपयोग किया जाना चाहिए। जब आपतन दर उपलब्ध न हो तो व्यापकता दर (जो सुलभता से उपलब्ध है) का उपयोग किया जा सकता है, लेकिन ''अवधि'' घटक के योगदान का आकलन करना ही होगा।

4.5.4 व्यापकता का उपयोग :

(क) व्यापकता से समुदाय में स्वास्थ्य/रोग की प्रचण्डता का अनुमान लगाने और ज्यादा–जोखिम वाले जनसमुदाय का पता लगाने में सहायता मिलती है।

(ख) व्यापकता दरें प्रशासनिक तथा नियोजन, जैसे कि हॉस्पिटल में बिस्तरों, श्रम शक्ति की आवश्यकता, पुनर्वास सुविधाओं आदि के प्रयोजन के लिए विशेष रूप से उपयोगी होती है।

4.6 संक्रामक रोग–विज्ञान संबंधी पद्धतियां

संक्रामक रोग विज्ञानी का मुख्य कार्य उन लोगों में रोग घटित होने का अध्ययन करना है, जो अपने जीवन काल में अनेक प्रकार के कारकों और परिस्थितियों के सम्पर्क में आते हैं, इनमें से कुछ की रोग–कारकों में भूमिका हो सकती है। नैदानिक (क्लीनीसियन) अथवा प्रयोगशाला अन्वेषक रोग–जनक परिस्थितियों का सटीक तरीके से आवधिक अध्ययन कर सकते हैं। लेकिन संक्रामक–रोग विज्ञानी के साथ ऐसा नहीं है। उसे रोग से जुड़े कारक–विज्ञान का अन्वेषण करने में सावधानीपूर्वक तैयार की गई शोध कार्यनीतियों का उपयोग करना होता है।

संक्रामक रोग–विज्ञान से संबंधित पद्धतियों को पर्यवेक्षणात्मक अध्ययन और परीक्षात्मक अध्ययन के रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है और इन वर्गीकरणों को आगे उप–वर्गों में बांटा जा सकता है।

4.6.1. पर्यवेक्षणात्मक अध्ययन :

(क) विवरणात्मक अध्ययन

(ख) विश्लेषणात्मक अध्ययन

i) अध्ययन की एक इकाई के रूप में जनसमुदाय को लेकर, पर्यावरण अथवा सह–सम्बन्धात्मक अध्ययन

(ii) बड़े जनसमुदाय के मामले में प्रतिनिध्यात्मक नमूनों का अध्ययन।

iii) व्यक्तियों को अध्ययन की इकाई मान कर, रोग–नियंत्रण अथवा रोकथाम और व्यक्तियों को अध्ययन की इकाई मानकर, रोग संदर्भ।

iv) व्यक्तियों को अध्ययन की इकाई मानकर, अनुवर्ती विश्लेषण।

4.6.2. परीक्षण अध्ययन (सुधारात्मक अध्ययन) :

(क) मरीजों को नियंत्रित परीक्षण इकाई के रूप में मानकर यादृच्छिक (रैण्डम) अथवा नैदानिक अध्ययन।

(ख) स्वस्थ्य लोगों को अध्ययन की इकाई मानकर फील्ड परीक्षण।

(ग) उपचारात्मक सुविधाओं से युक्त समुदायों को अध्ययन की इकाई मानकर सामुदायिक परीक्षण अथवा सर्वेक्षण।

इन अध्ययनों अथवा पद्धतियों को पूरी तरह से अलग–अलग या स्वतंत्र नहीं माना जा सकता, ये एक–दूसरे के पूरक हैं।

पर्यवेक्षणात्मक अध्ययनों में प्रकृति को अपना काम करने दिया जाता है। अन्वेषक के साधन या तौर–तरीके इसमें दखल नहीं देते। वर्णनात्मक अध्ययन किसी जनसमुदाय में रोग घटित होने का केवल विवरण प्रदान करता है। जबकि विश्लेषणात्मक अध्ययन इससे आगे बढ़कर स्वास्थ्य स्तर तथा अन्य परिवृत्यों के बीच सह–संबंध का विश्लेषण करता है। परीक्षण अथवा उपचारात्मक अध्ययन किसी रोग के निर्धारकों को अथवा रोग की प्रगति को बदलने का सक्रिय प्रयास करता है और ये परीक्षण अन्य वैज्ञानिक परीक्षणों की तरह ही होते हैं। लेकिन इन परीक्षणों में अतिरिक्त सावधानी बरतनी पड़ती है, क्योंकि परीक्षण में शामिल लोगों का स्वास्थ्य दांव पर लगा होता है यादृच्छिक नियंत्रित परीक्षण एक प्रमुख परीक्षण अभिकल्प (डिजाइन) है, इसमें स्वयं मरीज को अध्ययन–विषय के रूप में इस्तेमाल किया जाता है। फील्ड परीक्षण और सामुदायिक परीक्षण अन्य प्रकार के परीक्षण अध्ययन हैं, जिनमें भाग लेने वाले लोग स्वस्थ्य व्यक्ति या समुदाय होते हैं।

संक्रामक रोग विज्ञान सम्बन्धी सभी अध्ययनों में, अन्वेषित रोग तथा रोग के सम्पर्क में आने वाले व्यक्ति की सुस्पष्ट पूर्ण जानकारी होना अनिवार्य है। यदि इनके बारे में सुस्पष्ट पूर्ण जानकारी नहीं होगी तो आंकड़ों से निष्कर्ष हासिल करने में बहुत ज्यदा मुश्किल का सामना करना पड़ सकता है।

4.7 विवरणात्मक संक्रामक रोग विज्ञान

मानवता का सर्वश्रेष्ठ अध्ययन मनुष्य ही है। इस वक्तव्य में, रोग के सम्भावित कारकों के सम्पर्क में आने वाले लोगों अथवा जनसमुदाय पर पर्यवेक्षण के सर्वश्रेष्ठ उपयोग के महत्व पर बल दिया गया है। बर्किट द्वारा अफ्रीका में किए गए अतिसावधानीपूर्ण पर्यवेक्षण के फलस्वरूप अंततः एप्स्टीन–बार वायरस (ईबीवी) को कारण–विज्ञानी कारक (सम्भवतः मलेरिया के संक्रमण जैसे अन्य कारकों ने इस वायरस का अनुकूलन किया था) के रूप में बर्किट लिम्फोमा नामक कैंसर का दोषी पाया गया। न्यूगिनी में ''कुरु'' के संक्रामक रोग विज्ञानी अध्ययन के फलस्वरूप मनुष्यों में क्रॉनिक अपसर्जक स्नायुविज्ञानी विकार (कॉनिक डिजनरेटिव न्यूरोलॉजिकल डिसऑर्डर) के कारण के रूप में विषाणु के मंद संक्रामक (स्लो वायरस इन्फेक्शन) का पता लगा (''कुरु'' एक विरासतीय न्यूरोलॉजिकल विकार)। यह सूची अन्तहीन है।

संक्रामक रोग विज्ञान अन्वेषण में विवरणात्मक अध्ययन आमतौर पर सबसे पहला चरण होता है। इन अध्ययनों में जन–समुदाय का पर्यवेक्षण किया जाता है और उन लक्षणों की पहचान की जाती है जो प्रश्नगत–रोग से जुड़े प्रतीत होते हैं। इस प्रकार के अध्ययनों में बुनियादी तौर पर नीचे दिए गए प्रश्न पूछे जाते हैं :

(क) बीमारी कब होती है
– समय वितरण

(ख) यह कहां होती है
– स्थान वितरण

(ग) रोग किन लोगों को होता है
– व्यक्ति वितरण

विवरणात्मक अध्ययन में शामिल विभिन्न प्रक्रियाओं को नीचे रेखांकित किया गया है :–

1. अध्ययन हेतु जनसमुदाय परिभाषित करना
2. अध्ययन–गत रोग को परिभाषित करना
3. बीमारी को निम्न के द्वारा वर्णित करना
   (क) समय

(ख) स्थान

(ग) व्यक्ति

4. बीमारी के मापक

5. ज्ञात संकेतकों के साथ तुलना करना

6. कारण–विज्ञान संबंधी परिकल्पना (सिद्धान्त) तैयार करना।

4.8 विश्लेषणात्मक संक्रामक रोग विज्ञान

संक्रामक रोग विज्ञान संबंधी अध्ययन का दूसरा प्रमुख चरण विश्लेषणात्मक अध्ययन है। विरणात्मक अध्ययनों, जिनमें पूरे जनसमुदाय को लिया जाता है, के विपरीत, विश्लेषाणात्मक अध्ययन में उस जनसमुदाय के व्यक्ति को केन्द्र में रखा जाता है।

इसका उद्देश्य सिद्धान्त गढ़ना नहीं बल्कि जांच करना होता है। हालांकि विश्लेषणात्मक अध्ययनों में व्यक्तियों का आकलन किया जाता है, लेकिन निष्कर्ष व्यक्तिगत नहीं बल्कि उस पूरे समुदाय के लिए होते हैं, जिससे वह व्यक्ति अध्ययन के लिए चुना गया है।

विश्लेषणात्मक अध्ययनों में दो अलग–अलग प्रकार के पर्यवेक्षणात्मक अध्ययन किए जाते हैं :

(क) रोग (व्यक्तिगत) नियंत्रण अध्ययन।

(ख) प्रतिनिध्यात्मक अध्ययन।

इस प्रत्येक अध्ययन अभिकल्प (डिजाइन) से यह तय किया जा सकता है कि :–

(क) किसी रोग और सम्भावित कारक के बीच कोई सम्बन्ध है या नहीं;

(ख) यदि है, तो यह सम्बन्ध कितना मजबूत है।

4.9 स्वास्थ्य स्तर

विश्व स्वास्थ्य संगठन ने 1948 में स्वास्थ्य को इस प्रकार परिभाषित किया था :–

''स्वास्थ्य केवल रोग–विहीनता की स्थिति ही नहीं है बल्कि शारीरिक, मानसिक और सामाजिक रूप से सम्पूर्ण स्वास्थ्य की स्थिति है।''

स्वास्थ्य को व्यक्ति के शारीरिक बनावट (ढांचे) और कार्य तथा रोग अथवा रोग के लक्षणों की मौजूदगी अथवा गैर–मौजूदगी (स्वास्थ्य स्तर); उसके लक्षण तथा वे क्या कर सकते हैं और क्या नहीं कर सकते हैं

अर्थात् स्वास्थ्य स्तर की स्थिति व्यक्ति के सामान्य जीवन को किस सीमा तक प्रभावित कर सकती हैं, जीवन–गुणवत्ता के रूप में समझा जा सकता है।

(क) स्वास्थ्य–स्तर के पैमाने या मापक

स्वास्थ्य–स्तर को रोगमूलक और नैदानिक पैमानों के जरिए आंका जा सकता है और आमतौर पर निदान–विज्ञानी (क्लीनिशियन) द्वारा इसका पर्यवेक्षण किया जाता है अथवा साधनों (उपकरणों) का इस्तेमाल करके स्वास्थ्य स्तर का आकलन किया जा सकता है।

रोग मापकों के प्रकार :

- **संकेत–** रक्त–चाप, तापमान, एक्स–रे, ट्यूमर का आकार
- **लक्षण–** रोग–विशिष्ट चैक–लिस्ट
- **सह–रुग्णता–** चार्ल्सन सूचकांक, सह–अस्तित्व वाले रोग हेतु आईसीईडी–सूचकांक (रोग की गम्भीरता और कार्यात्मक गम्भीरता दोनों का पर्यवेक्षण करता है), प्रतिकूल घटनाक्रम– दर्द, रक्तस्राव, पुनः भर्ती, जटिलताएं (सर्जिकल जटिलताओं के लिए क्लैवीन–डिन्डो वर्गीकरण का उपयोग)।

नए खोजे गए पैमानों की बजाय, हमेशा मौजूदा पैमानों का ही उपयोग करना अच्छा होता है क्योंकि ये पैमाने कसौटी पर खरे उतर चुके होते हैं। विश्वसनीयता, वैधता और प्रभावशीलता के मामले में खरे सिद्ध हो चुके मौजूदा मानकीकृत पैमानों का ही उपयोग करें। पैमानों का मूल्यांकन करते समय निम्नलिखित मानकों को लागू करें :

साइकोमेट्रिक मानक :

- **स्वीकार्यता**– मापक पैमाने में न्यूनतम या अधिकतम रुझान के बिना एक मापक सीमा (रेन्ज) होनी चाहिए।
- **विश्वसनीयता–** परीक्षण पुनः परीक्षण (परीक्षण और पुनः परीक्षण करने पर एक ही स्कोर प्राप्त होगा), इन्टररेटर (यदि दो व्यक्ति किसी एक ही व्यक्ति का अलग–अलग आकलन करें तो एक जैसा स्कोर निकलना चाहिए– कप्पा द्वारा मापा गया कप्पा स्टैटिस्टिक (कप्पा स्टैटिस्टिक इन्टर–रेट विश्वसनीयता को मापने का एक फार्मूला है। कप्पा– (पर्यवेक्षकों के बीच पर्यवेक्षित अनुरुपता % में– अपेक्षित संयोगवश अनुरूपता % में)/(100% – केवल संयोगवश अपेक्षित अनुरूपता % में)। आन्तरिक सुसंगति (क्रॉनबैच अल्फा– किसी चीज के आकलन के लिए जब प्रश्नावली का उपयोग किया जाता है यानि आक्सफोर्ड हिप स्कोर– इसमें प्रत्येक उत्तर के लिए कोई अंकीय मान दिया जाता है और इन सभी अंकीय मानों का योग संख्यात्मक अधिमान दर्शाता

है। इन पैमानों में आंतरिक सुसंगति होनी चाहिए, अर्थात् सभी पैमाने एक ही चीज का आकलन करें। क्रॉनबैच अल्फा किसी पैमाने की आन्तरिक सुसंगति के लिए एक गुणांक (कोफिसिएट) है।)

- **वैधता–** संवेदनशीलता (जो सही तौर पर रोग से सम्बन्ध रखते हैं, उनका पता लगाएं) और विशिष्टता (जो सही तौर पर रोग से संबंधित न हो, उनका पता लगाएं)
- **प्रतिक्रियाशीलता**– कोई पैमाना या मापक नैदानिक (क्लीनिकली) रूप से सार्थक बदलावों का किस सीमा तक पता लगा सकता है।

व्यावहारिक मानक

यदि इन आकलनों का नैदानिक कार्यों के एक भाग के रूप में नेमी (रुटीन) उपयोग किया जाना है तो–

- ये आकलन प्रासंगिक/सुसंगत होने चाहिए
- ये आकलन संक्षिप्त और आसानी से उपयोग लायक होने चाहिए।
- नेमी उपयोग के लिए व्यवहार्य होने चाहिए।

यदि मौजूदा पैमाने का उपयोग करना सम्भव न हो तो दूसरा बेहतर तरीका यह होगा कि मौजूदा पैमाने का अनुकूलन करें। लेकिन इस अनुकूलित पैमाने की विश्वसनीयता, वैधता और प्रतिक्रियाशीलता का नई परिस्थितियों में पुनः मूल्यांकन अवश्य करें। अन्यथा, एक नया पैमाना विकसित करना होगा और उसकी विश्वसनीयता, वैधता और प्रतिक्रियाशीलता को परखना होगा।

परीक्षण की विश्वसनीयता बढ़ाने वाले कारक

- पर्यवेक्षकों को प्रशिक्षण
- शब्दावलियाँ, मानक और प्रोटोकोल सुस्पष्ट हों।
- नियमित पर्यवेक्षण और तकनीकों की समीक्षा
- खामियों के कारणों का पता लगाना और उन्हें दूर करना

वैधता बढ़ाने के तरीके

- नैदानिक सूचना जुटाने के लिए सुगठित और मानकीकृत प्रक्रिया
- स्कोरिंग तथा प्रतिपादन के मानकीकृत प्रोटोकोल
- भली–भांति परखे गए उपकरणों (जिनकी विश्वसनीयता और वैधता के तथ्य मौजूद हों) का उपयोग
- सूचनाओं के बारे में प्रासंगिक रिपोर्ट प्राप्त करना।

वैधता और विश्वसनीयता के बीच सम्बन्ध :

जो किसी समूह या जन समुदाय के लिए वैध (मान्य) हो, जरुरी नहीं कि वह नैदानिक व्यवस्था में किसी व्यक्ति विशेष क लिए भी मान्य हो। यदि किसी टेस्ट (जांच) की विश्वसनीयता अथवा पुनः जांच योग्यता कमजोर होगी तो किसी व्यक्ति–विशेष के लिए इसकी वैधता (मान्यता) भी कमजोर होगी।

(ख) जीवन गुणवत्ता के मापक

जीवन गुणवत्ता व्यक्ति विशेष की आशाओं और आकांक्षाओं तथा उस व्यक्ति के वर्तमान अनुभवों के बीच अन्तर का आकलन है। स्वास्थ्य से जुड़ी जीवन गुणवत्ता मुख्यतया उन कारकों से सरोकार रखती है जो स्वास्थ्य देखभाल सेवा प्रदाताओं स्वास्थ्य देखभाल व्यवस्था के प्रभाव के दायरे में आते हैं।

- सीधे मरीज से पूछ कर या अन्य साधनों का उपयोग करके स्वास्थ्य से जुड़ी जीवन गुणवत्ता का आकलन किया जा सकता है। स्वास्थ्य से जुड़ी जीवन–गुणवत्ता को विभिन्न प्रकार के रोगों, चिकित्सा उपचार और जन समुदायों/सांस्कृतिक समूहों पर लागू किया जा सकता है या फिर, ये केवल कुछ विशिष्ट रोगों, प्रयासों अथवा जन–समुदायों को संदर्भित कर सकती है। कोई विशिष्ट रोग किसी जनसमुदाय–विशेष या उस रोग की चपेट में आये व्यक्तियों के लिए बहुत प्रासंगिक हो सकता है लेकिन सामान्य जन–समुदाय (जहां स्वास्थ्य–समस्या नहीं है) के साथ तुलना करना मुश्किल होता है। यदि ऐसी तुलना करना आवश्यक हो तो, जैनेटिक (जीन सम्बन्धी) उपकरण या साधन ज्यादा उपयोगी हो सकता है। जैनेटिक तथा अन्य विशिष्ट उपकरणों को एक–दूसरे के साथ संयोजित करके उपयोग में लाया जा सकता है।

- एचआरकोल आकलन ज्यादा उपयोगी हैं क्योंकि ये मरीजों को प्रभावित करने वाली अनेक समस्याओं की पुष्टि कर सकते हैं, तथा किसी भी ऐसी मौजूदा समस्या, जिसकी अन्यथा अनदेखी हो जाती, को सामने ला सकते हैं और उपचार की सफल्ता का पूर्वानुमान लगा सकते हैं।

- एचआरकोल आकलनों को गुणवत्ता समायोजित जीवन–वर्षों (क्यूएएलवाई) की गणना करने के लिए, एक खास स्वास्थ्य स्तर में समय के पैमानों के साथ संयोजित किया जा सकता है। **जन समुदाय–विशिष्ट टूल (उपकरण) :**

- चाइल्ड हैल्थ एण्ड इलनेस प्रोफाइल (चिप या सीएचआईपी)– जन समुदाय या आबादी के विशिष्ट समूहों जैसे कि बच्चों अथवा उम्रदराज व्यक्तियों के लिए समूह–विशिष्ट साधन या उपकरण डिजाइन किए गए हैं। चिप में संतुष्टि, आराम, लचीलापन, जोखिम बचाव और उपलब्धि, इन पांच आयामों को शामिल किया गया है।

(ग) स्वास्थ्य–देखभाल के पैमाने :

स्वास्थ्य देखभाल क्षेत्र के निष्पादन के आकलन से सम्बन्धित पैमानों का विवरण ''आपूर्ति ओर मांग के पैमाने'' में दिया जा चुका है और सेवाओं की कारगरता, कार्य कुशलता तथा स्वीकार्यता का मूल्यांकन के

लिए अध्ययन अभिकल्प तथा स्वास्थ्य देखभाल क्षेत्र का ढांचा, प्रक्रिया, सेवा–गुणवत्ता एवं प्रतिफल का भी विस्तार से वर्णन किया जा चुका है। इनमें निम्नलिखित को शामिल किया जा सकता है :

- मरीज की संतुष्टि और अनुभव तथा मरीज द्वारा बताए गए परिणाम का आकलन। मरीजों के बारे में ऐसे कई जांचे–परखे सर्वेक्षण मौजूद हैं जिनका मरीजों की संतुष्टि और अनुभव जानने के लिए उपयोग किया जा सकता है। केअर क्वालिटी कमीशन और पिकर इन्स्टीट्यूट ने राष्ट्रीय स्तर पर निष्पादन की निगरानी के लिए इनका उपयोग किया है।
- दिशा–निर्देशों के कार्यान्वयन, उपचार के नवीनतम सबूत और मानक तथा रेफेराल (किसी बड़े अस्पताल के लिए रेफर करना) जैसी प्रक्रियाओं और प्रतिफलों के रूप में भी स्वास्थ्य–देखभाल की गुणवत्ता का आकलन किया जा सकता है। इसके अलावा केयर क्वालिटी कमीशन जैसी वाह्य एजेंसियां भी अपनी निगरानी, निरीक्षण प्रक्रिया द्वारा गुणवत्ता का आकलन कर सकती हैं।
- स्वास्थ्य–देखभाल संगठनों की गुणवत्ता और उत्पादकता (मरीजों की संख्या, भरती मरीजों की संख्या, प्रतीक्षा–समय) आमतौर पर इस्तेमाल किए जाने वाले पैमाने हैं।
- अब वित्तीय निष्पादन को स्वास्थ्य–देखभाल निष्पादन का एक महत्वपूर्ण पहलू माना जाता है।

4.10 भारत में स्वास्थ्य स्तर

भारत ने आजादी के बाद अत्यंत उम्मीदों और आकांक्षाओं के साथ आधुनिक विकास के रास्ते पर कदम बढाया था। लेकिन आजादी के सात दशक बाद भी, भारत में स्वास्थ्य का स्तर श्रीलंका जैसे देशों से भी निम्न है। भारतीय आबादी का एक बहुत बड़ा भाग स्वास्थ्य के स्वीकृत मानकों से नीचे जीवन जी रहा है। इसका प्रमुख कारण व्यापक गरीबी कुपोषण, शिक्षा का निम्न स्तर, स्वच्छ जल की आपूर्ति न होना, आवास और स्वच्छता की कमी है। प्रश्न यह उठता है कि इस मौजूदा संकट का कारण क्या है और ऐसा क्यों है कि लगभग 70 प्रतिशत आबादी स्वास्थ्य के खराब हालातों में रह रही है। स्वास्थ्य–स्तर का निर्धारण सामान्यता सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक कारकों द्वारा होता है। गरीबी, कुपोषण, संदूषण और रूग्णता तथा मृत्यु की बढ़ती दर के बीच सीधा सम्बन्ध होता है। गरीबी बहुधा बीमारी का कारण होती है और बीमारी का पैटर्न तय करती है। इसलिए इस सम्बन्ध को ''गरीबी के रोग'' कहा गया है। यह एक ऐसा दुष्चक्र है जिसमें गरीबी बीमारी पैदा करती है और बीमारी गरीबी का बोझ बढ़ाती है। स्वास्थ्य सिस्टम व्यक्ति–विशेष के वर्ग–स्तर और जाति स्तर पर बहुत ज्यादा आश्रित होता है। समाज का सामाजार्थिक ढांचा भी स्वास्थ्य संबंधी ऐजेन्डा और प्राथमिकताओं को स्वरूप देता है। स्वास्थ्य अध्ययन संकेत देते हैं कि गरीबी और असमानता एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

4.11: आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था :

भारतीय स्वास्थ्य सिस्टम को ढालने वाले व्यावसायिक, वाणिज्यक और वर्ग संबंधी हितों पर नजर डालें तो, हम ग्रामीण भारत में खराब–स्वास्थ्य और उच्च मृत्यु दर का कारण समझ जाएंगे। इसके अलावा, प्रश्न यह उठता है कि लोग अपर्याप्त स्वास्थ्य सिस्टम को स्वीकार क्यों कर लेते हैं? स्वीकार्यता का मुद्दा दो अहम प्रश्न खड़े करता है। पहला ऐसा क्यों है कि भारत में शासक वर्ग शारीरिक श्रम करने वाले गरीबों के स्वास्थ्य–स्तर के बारे में चिन्तित क्यों नहीं है? और दूसरा, आम लोग इसका विरोध क्यों नहीं करते तथा और ज्यादा उपयुक्त स्वास्थ्य सिस्टम के लिए संघर्ष क्यों नहीं करते?

4.11.1: आर्थिक व्यवस्थाः श्रमिकों का स्वास्थ्य स्तर तात्कालिक अथवा मुख्य चिन्ता का विषय क्यों नहीं है। यह प्रश्न अत्यन्त अहम है क्योंकि यह समाज में श्रमिक वर्ग की स्थिति दर्शाता है। श्रमिकों के स्वास्थ्य में कोई खास रुचि नहीं है क्योंकि, मौजूदा आर्थिक व्यवस्था में जन–साधारण के स्वास्थ्य की कोई अहमियत नहीं है। ग्रामीण स्वास्थ्य खराब है क्योंकि भारत में पूंजीवादी उत्पादन की प्रक्रिया के लिए कठोर श्रम करने वाले ग्रामीणों का स्वास्थ्य कोई अहमियत नहीं रखता।

चूंकि बेरोजगार–अर्ध–बेरोजगार श्रमिकों की भारत में भरमार है, इसलिए कोई श्रमिक अस्वस्थ या काम करने लायक नहीं है, इसका कोई फर्क नहीं पड़ता। समाज के हाशिये पर पड़े श्रमिक गरीब का स्वास्थ्य–स्तर यदि उसकी अप्रासंगिकता को दर्शाता है तो यह साथ ही यह भी दर्शाता है कि वह समाज में कितना शक्तिहीन है तथा अपनी हालत के खिलाफ आवाज उठाने में अक्षम है। जैसा कि नवारो ने कहा है– चिकित्सा व्यवसाय उस स्वास्थ्य सिस्टम का सह–प्रबंधक है, जिसका बुनियादी ढांचा आर्थिक और सामाजिक पूर्व–धारणाओं तथा ताकतों, इस व्यवसाय से भी कही ज्यादा व्यापक हैं, के द्वारा तय किया जाता है।

4.11.2:राजनीतिक व्यवस्था : अब दूसरा प्रश्न, बहुसंख्य श्रमिक वर्ग स्वास्थ्य संसाधनों के वर्तमान ढांचे, नियंत्रण और वितरण का विरोध क्यों नहीं करता है? निश्चय ही जो लोग वर्तमान सरकार को सत्ता में लाए हैं, उन्हीं लोगों की जरूरतों को पूरा करने के लिए राष्ट्रीय संसाधनों का सुव्यवस्थित प्रवाह सुनिश्चित करना सरकार का दायित्व है। सरकार किसी नीति–विशेष को किस सीमा तक क्रियान्वित करे, यह इस बात पर निर्भर करेगा कि सभी लोग मिलकर जवाबदेही के लिए सरकार पर कितना दबाव बना रहे हैं। बहुसंख्य लोगों की स्वास्थ्य–जरूरतों को वाणिज्यिक और/अथवा व्यवसायिक हितों की तुलना में ज्यादा तरजीह देने के प्रति यदि कोई राजनीतिक जवाबदेही नहीं है तो प्रश्न यह उठता है कि ''क्यों नहीं''? बदलाव के लिए जरुरी कारगर दबाव की कमी के कारण बहुत जटिल है। इस शक्तिहीनता को समझने के लिए राजनीतिक/ निर्वाचन सिस्टम पर ही नहीं बल्कि गरीबों के दयनीय जीवन जैसे कारक जो आवाज नहीं उठाने देते तथा गरीबों को उनकी स्थिति के लिए जिम्मेदार मूल कारणों के प्रति जागरुक की बजाय दिग्भ्रमित करने या बदलाव के लिए इन लोगों के प्रयासों का दमन करने वाली सामाजिक ताकतों पर विचार करना होगा।

4.4 सारांश

उपरोक्त इकाई के अध्ययन के पश्चात् अब हम सामाजिक मरक–विज्ञान (संक्रामक रोग विज्ञान) की परिभाषा व विषय वस्तु तथा इसे विभिन्न प्रकारों से अवगत हो चुके हैं। साथ ही आपतन व व्यापकता व इनकी उपयोगिता से भी अवगत हो चुके हैं।

4.5 शब्दावली

आपतन (Incidence): एक विशिष्ट समय के दौरान किसी विशिष्ट जन समुदाय में रोग के नये मामलों की दर को आपतन कहते हैं।

व्यापकता (Prevalence): एक विशिष्ट समय में किसी विशिष्ट जन समुदाय में किसी निर्धारित समय में अथवा समयावधि के दौरान सभी मौजूदा (पुराने व नये) रोगियों की दर को व्यापकता कहते हैं।

4.6 अभ्यास प्रश्न

1. मरक–विज्ञान कौन सी शताब्दि में अस्तित्व में आया?
   (अ) 17वीं शताब्दि (ब) 18वीं शताब्दि (स) 19वीं शताब्दि (द) 20वीं शताब्दि
2. संयुक्त राज्य अमेरिका को डब्लू एस फ्रास्ट संक्रामक रोग विज्ञान के पहले प्रोफेसर कब बने?
   (अ) 1925 (ब) 1927 (स) 1929 (द) 1920
3. संक्रामक रोग विज्ञान की प्रचलित परिभाषा किस विद्वान की मानी जाती है?
   (अ) पार्किन्स (ब) ग्रीनवुड (स) मैकमोहन (द) जान एम लास्ट
4. स्वास्थ्य स्तर मापने हेतु प्रचलित प्रमुख रूप से कितने रोग मापक हैं?
   (अ) 3 (ब) 2 (स) 4 (द) 5

अभ्यास प्रश्नों के उत्तर :

1. स 2. ब 3. द 4. अ

4.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. एचेंसन, आर.एम. (1978), ब्रिटिश मेडिकल जरनल, 2 : 17–37
2. आस्टिन, डी.एफ एण्ड वार्नर, एस.वी. (1970), इपिडिमियोलॉजी फॉर द हैल्थ साइन्सेज, इलीनोइंस, सी.सी., थॉमस
3. वार्कर, डी.जे.पी. एण्ड जी. रॉस (1976), इपिडिमियोलॉजी इन मेडिक्ल प्रैक्टिस, चर्चिल लिग्वस्टन

4. फॉक्स, जे.पी. एट.एल. (1970), इंपिडिमियोलॉजी : मैन एण्ड डिजीज, न्यूयार्क, मैकमिलन

5. लास्ट, जॉन एम. (एडि (1983), ए डिक्सनरी ऑफ इपिडिमियोलॉजी, ए हैण्डबुक स्पान्सर्ड बाई द आई.ई.ए., आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस

6. लोवी, सी.आर. एण्ड जे. कोस्ट्राजेवेस्की (1973), इपिडिमियोलॉजी : ए गाइड टू टीचिंग मैथड्स, चर्चिल लिग्विस्टन

7. मैकमोहन, वी. एण्ड टी.एफ. पुघ (1970) इपिडिमियोलॉजी : प्रिसीपल्स एण्ड मैथड्स, बोस्टन, लिटिल ब्राउन

8. मॉरिस जे.एन. (1975) यूजेस ऑफ इपिडिमियोलॉजी 3 एडि., लंदन, चर्चिल लिग्विस्टन

9. पार्क के. (2015), पार्क्स टैक्स बुक ऑफ सोशल एण्ड प्रिवेन्टिव मेडिसिन, 23 एडि., बनारसी दास भनोट पब्लिशर्स

10. रॉवर्टस, सी.जे. (1977) इपिडिमियोलॉजी फार क्लीनिसियंस, लंदन, पीतम मेडिकल

11. डब्लू.एच.ओ. (1981), हैल्थ फार ऑल, सीरियल नं. 4:1

4.8 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. एल्डरसन, एम. (1983), एन इन्ट्रोडक्सन टू इपिडिमियोलॉजी, 2 एडिसन, लंदन, मैकमिलन

2. लीलिनफील्ड, ए.एम. एण्ड लिलिनफील्ड, डी.ई. (1980), फाउन्डेशन ऑफ इपिडिमियोलॉजी, 2 एडीसन, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस

3. रोट, एल.एच. एट एल (1982), प्रिन्सीपल्स ऑफ इपिडिमियालॉजी : ए सेल्फ टीचिंग गाइड, लंदन, एकेडेमिक प्रेस

4. डब्लू.एच.ओ. (1993), बेसिक इपिडिमियोलॉजी बाइ ब्यागलेहोले, आर. बोनिस, टी. केजलिस्ट्रोम

5. डब्लू.एच.ओ. (1982), द पैलेस ऑफ इपिडिमियोलॉजी इन लोकल हैल्थ वर्क, ऑफसेट पब्लिकेशन नं. 70, जेनेवा

4.9 निबंधात्मक प्रश्न

1. मरक–विज्ञान (संक्रामक रोग विज्ञान) की परिभाषा एवं विषयवस्तु का वर्णन कीजिये?
2. सामाजिक मरक–विज्ञान किस प्रकार स्वास्थ्य के सामाजिक प्रसार एवं सामाजिक निर्धारिकों का अध्ययन करता है?
3. मरक–रोग विज्ञान के प्रमुख तीन घटकों को स्पष्ट कीजिए?
4. आपतन एवं व्यापकता की परिभाषा व उपयोगिता का वर्णन कीजिये?

इकाई 5 ःजरायु स्वास्थ्य (Geriatric Health)

इकाई की रूपरेखा (Outline of Unit)

5.1 उद्देश्य

5.2 प्रस्तावना

5.3 जरायु जननांकिकी

5.4 वृद्धजनों के अधिकार

5.5 वृद्धावस्था, स्वास्थ्य और विकास

5.6 राष्ट्रीय वृद्धजन स्वास्थ्य देखभाल कार्यक्रम (एनपीएचसीई)

5.6.1: एनपीएचसीई का ध्येय

5.6.2: एनपीएचसीई के विशिष्ट उद्देश्य

5.6.3: एनपीएचसीई के उद्देश्यों को प्राप्त करने की कार्यनीतियांय

5.6.4: एनएचपीसीई से अपेक्षित परिणाम

5.6.5: एनपीएचसीई के अन्तर्गत सर्विस पैकेज

5.6.6: एनएचपीसीई के तहत सर्विस पैकेज अलग–अलग स्तरों पर उपलब्ध कराया जाना

5.6.7: एनएचपीसीई के कार्यान्वयन के लिए संस्थागत फ्रेमवर्क

5.7 सारांश

5.8 शब्दावली

5.9 अभ्यास प्रश्न

5.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची

5.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

5.12 निबंधात्मक प्रश्न

5.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप;

1. जरायु (वृद्ध लोगों की) जनानिंकी से अवगत होंगे।
2. वृद्ध लोगों के अधिकारों से परिचित हो सकेंगे।
3. वृद्धावस्था, स्वास्थ्य एवं विकास के परस्पर सम्बन्धों को जान पायेंगे।
4. राष्ट्रीय वृद्धजन स्वास्थ्य देखभाल कार्यक्रम (NIHCE) के उद्देश्यों तथा इन उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु कार्यनीतियों से अवगत होंगे।
5. साथ ही इस कार्यक्रम के अन्य अववयों को जान पायेंगे।

5.2 प्रस्तावना

वृद्धजनों की सबसे अहम समस्या स्वास्थ्य है। भारत जैसे विकासशील देशों में, वृद्धजनों में बीमारी और विकलांगता जैसी समस्याओं का जोखिम सबसे ज्यादा होता है। इनके लिए स्वास्थ्य देखभाल प्रणाली की तत्काल आवश्यकता है। विश्व स्वासथ्य संगठन (WHO) के एक अनुमान के अनुसार 2015 तक कैन्सर, हाइपरटेंशन, ह्रदय रोग, डायबिटीज जैसी पुरानी बीमारियों से मरने वालों की संख्या 35 मिलियन से बढ़कर 41 मिलियन हो जाएगी, यानि इन बीमारियों से होने वाली मौतों में 17 प्रतिशत का इजाफा होगा।

5.3: जरायु जननांकिकी

आयु वृद्धि एक प्राकृतिक घटना है। उत्तरजीवितता (चिरायु होना या लम्बी उम्र तक जीवित रहना) ने अनेक सामाजार्थिक और स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याओं को जन्म दिया है। उर्वरता दर में गिरावट के कारण 60 वर्ष या इससे अधिक की उम्र वाले लोगों की संख्या में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। इसने संयुक्त राष्ट्र संघ (UN) का ध्यान खीचा हैं। संयुक्त राष्ट्र द्वारा कराए गए एक अध्ययन के अनुसार 2050 तक वृद्धजनों की संख्या दो अरब तक पहुंच जाएगी। इस संबंध में संयुक्त राष्ट्र महासभा ने 1939 में पहला विश्व सम्मेलन आयोजित किया था। इसमें अन्य बातों के साथ–साथ स्वास्थ्य और पोषण, परिवार, आय सुरक्षा तथा सामाजिक कल्याण के मुद्दों पर विशेष कदम उठाने का आहवान किया गया था। 1992 में आयु वृद्धि पर एक अन्तराष्ट्रीय सम्मेलन बुलाया गया, जिसमें आयुवृद्धि पर एक उद्घोषणा को अंगीकार किया गया था। 2002 में आयु वृद्धि के बारे में आयोजित दूसरे विश्व सम्मेलन में मैड्रिड अन्तर्राष्ट्रीय कार्य योजना को स्वीकार किया गया। इसमें विशेष रूप से स्वास्थ्य और वृद्धावस्था में स्वस्थता के लिए सभी स्तरों पर आचार-व्यवहार, नीतियों और तौर–तरीकों में बदलाव का आहवान किया गया।

वर्तमान शताब्दी में चर्चा का सबसे बड़ा मुद्दा आबादी के एक बहुत बड़े भाग का वृद्धावस्था को प्राप्त होना है। विशाल आबादी वाले भारत जैसे देश में 60 वर्ष या इससे अधिक आयु वाले लोगों की संख्या बहुत अधिक है। भारत में पिछले 50 वर्ष के दौरान वृद्ध आबादी तीन गुना बढ़ी है और निकट भविष्य में भी इसी तरह बढ़ती रहेगी। 2001 की जनगणना के अनुसार कुल आबादी में वृद्धजनों की हिस्सेदारी 7.7 प्रतिशत थी जो 2011 की जनगणना में बढ़ कर 8.6 प्रतिशत हो गई है। अनुमान है कि अगले चार दशकों यानि चार गणनाओं में आबादी इस प्रकार रहेगी– 133.32 मिलियन (2021), 178.59 मिलियन (2031), 236.01 मिलियन (2041) और 300.96 मिलियन (2051)। वृद्धजनों की आबादी में वृद्धि का कारण उर्वरता तथा मृत्यु दर में बदलाव है।

2001 में कुल आबादी में वृद्धजनों (60 वर्ष या इससे अधिक की आबादी का शेयर 7.7 प्रतिशत और 2011 में 8.6 प्रतिशत (104 मिलियन; 53 मिलियन महिला और 51 मिलियन पुरुष) था जो एक अनुमान के अनुसार

वर्ष 2050 तक 19 प्रतिशत हो जाएगा। जनसंख्याविदों का अनुमान है कि केवल अगले 25–30 वर्षों में 65 वर्ष और इससे अधिक आयु के व्यक्तियों की संख्या 5 वर्ष से कम आयु के बच्चों की तुलना में दोगुनी हो जाएगी। इसका मतलब है कि बाल चिकित्सकों की तुलना में जरायु चिकित्सकों की ज्यादा आवश्यकता होगी। इसलिए कई दशक पहले ही हमें इसकी तैयारी कर लेनी चाहिए। अनुमान बताते हैं कि 2050 में ''वयोवृद्ध'' यानि 80 वर्ष या इससे अधिक आयु के व्यक्तियों की संख्या 434 मिलियन तक पहुंच जाएगी यानि 2015 की तुलना में इनकी संख्या में तीन गुना वृद्धि हो जाएगी। वर्तमान में इस आयु के व्यक्तियों की संख्या में सबसे तेज वृद्धि हो रही है और इसी उम्र में रुग्णता (Morbidity) तथा पराश्रितता (Depandancy) बोझ भी सबसे ज्यादा होता है।

भारत में वृद्धजनों से जुड़े आंकड़ों के अनुसार वर्ष 2011 में 7 प्रतिशत वृद्धजन ग्रामीण क्षेत्रों में रह रहे थे। ग्रामीण क्षेत्रों में 66 प्रतिशत वृद्ध पुरुष और 28 प्रतिशत वृद्ध महिलाएं कार्यरत थीं, जबकि शहरी क्षेत्रों में केवल 46 प्रतिशत वृद्ध पुरुष और लगभग 11 प्रतिशत वृद्ध महिलाएं कार्यरत थी। हालांकि, वृद्धजनों में साक्षरता दर में वृद्धि का रूझान देखा जा रहा है, लेकिन वृद्धावस्था निर्भरता अनुपात जो 1961 में 10.9 प्रतिशत था वह भी बढ़कर 2011 में 14.2 प्रतिशत हो गया है। पूरे भारत के लिए, आर्थिक आत्मनिर्भरता के राज्यवार आंकड़े बताते हैं कि दूसरों पर पूरी तरह से निर्भर वृद्ध पुरुषों का अनुपात सबसे ज्यादा केरल में (43 प्रतिशत) और सबसे कम जम्मू–कश्मीर में (21 प्रतिशत) है।

जन्म और मृत्युदर में गिरावट और इसके फलस्वरूप जन्म तथा वृद्धावस्था के समय उत्तरजीविता में वृद्धि से जननांकिकी अंतरण का अन्तिम प्रतिफल अथवा जननांकिकी उपलब्धि माना जाता है। 2006–2011 के दौरान उत्तरजीवितता (अनुमानित जीवनकाल) पुरुषों के लिए 65.65 वर्ष और महिलाओं के लिए 67.22 वर्ष था, जबकि एक अनुमान के अनुसार 2011–16 के दौरान यह पुरुषों के मामले में 67.04 वर्ष और महिलाओं के मामले में 68.8 वर्ष हो जाएगी। सामाजार्थिक स्तर चाहे कैसा भी हो, वृद्धावस्था में गैर–संचारी रोगों से ग्रस्त होना बहुत ज्यादा आम बात है और इसके लिए बहुत ज्यादा स्वास्थ्य सेवाओं और सामाजिक देखभाल की आवश्यकता होती है। बहुधा ये गैर–संचारी रोग (एनसीडी) विकलांगता का कारण बन जाते हैं, जिससे वृद्धजनों के दैनिक कार्यकलाप प्रभावित हो जाते हैं। इन लम्बी बीमारियों को मैनेज करना भी बहुत महंगा होता है। विशेषकर कैन्सर का इलाज, जोड़ों को बदलना, हार्ट सर्जरी, न्यूरोसर्जिकल प्रक्रिया आदि काफी महंगे इलाज हैं और वृद्धजन इसका वित्तीय बोझ उठाने में असमर्थ होते हैं। राष्ट्रीय प्रतिदर्श (सैम्पल) सर्वेक्षण के 60 वें दौर में एक व्यापक स्थिति रिपोर्ट प्रस्तुत की गई है जो वृद्धजनों के बारे में है। इस सर्वेक्षण के अनुसार, वृद्धजनों में रोग व्यापकता और ग्रस्तता तथा अस्पताल में भर्ती होने की दर कुल आबादी की तुलना में बहुत ज्यादा है। इसमें यह भी बताया गया है कि 8 प्रतिशत वृद्ध भारतीय अपने घर

अथवा बिस्तर तक ही सीमित हैं। चलने–फिरने में असमर्थ अथवा अपने घर तक सीमित 80 वर्ष से अधिक आयु के वृद्धों में यह अनुपात 27 प्रतिशत तक पहुंच गया है। ग्रामीण और शहरी दोनों ही क्षेत्रों में रोग या विकलांगता ग्रस्त महिलाओं का प्रतिशत पुरुषों से ज्यादा है। सर्वेक्षण से पता चला है कि अपना स्वास्थ्य ठीक–ठाक या अच्छा बताने वाले लोगों का प्रतिशत 55.63 प्रतिशत और स्वयं को बीमार बताने वालों का प्रतिशत 77.78 प्रतिशत था। इसके विपरीत सर्वेक्षित आबादी में 13–17 प्रतिशत आबादी ने बीमारी की शिकायत तो नहीं की लेकिन कहा कि स्वास्थ्य ठीक नहीं है। ऐसा सम्भव है कि अनेक वृद्धजन खराब स्वास्थ्य को वृद्धवस्था की एक ''सामान्य/आम बात'' मानकर इसकी परवाह न करते हों। अपने स्वास्थ्य के बारे इन लोगों की यह धारणा एक महत्वपूर्ण पर्यवेक्षण (टिप्पणी) है क्योंकि यह स्वास्थ्य सेवाओं के उपयोग और उपचार संबंधी सलाह के अनुपालन का एक महत्वपूर्ण संकेतक है।

लेकिन बदलती आवश्यकता और समय के अनुरूप स्वास्थ्य तथा सामाजिक देखभाल का एक प्रतिमान (मॉडल) विकसित करने के लिए बहुत कम प्रयास किये गए हैं। विकसित देशों में वृद्धजनों की देखभाल के लिए नर्सिंग होम केयर, स्वास्थ्य बीमा आदि जैसे अनेक प्रतिमान तैयार किए गए हैं। भारत तथा भारत जैसी सामाजार्थिक स्थिति वाले अन्य समाजों में वृद्ध लोगों के लिए ऐसे कोई प्रतिमान नहीं हैं। अतः स्वास्थ्य प्रणाली के विकास में अभिनवशीलता के लिए यह एक अच्छा मौका है, हालांकि यह एक बड़ी चुनौती है, पर असम्भव नहीं है। हमारे देश में वृद्धजनों के स्वास्थ्य देखभाल की जरूरतें भी भिन्न हैं। भारत में अभी भी वृद्धों की देखभाल परिवार करता है, इन परिवारों को प्रशिक्षण दिया जाए तो यह वर्ग स्वास्थ्य कार्यक्रम का सहयोगी बन सकता है। वर्तमान में, देश में स्वास्थ्य देखभाल के सामान्य संस्थान (अस्पताल, डिस्पैन्सरियां आदि) ही वृद्धजनों को स्वास्थ्य सेवाएं मुहैय्या कराती हैं। जैसा कि भविष्य में वृद्धजनों की आबादी में वृद्धि होगी और संचारी रोगों की जगह गैर–संचारी रोग लेंगे, अब समय आ गया है कि स्वास्थ्य देखभाल प्रणाली इष्टतम और व्यापक तरीके से वृद्धजनों की स्वास्थ्य देखभाल के लिए अपने आप को तैयार करे। वृद्धजनों को यह समझाया जाना चाहिए कि रुग्णता और विकलांगता वृद्धावस्था का एक हिस्सा नहीं है और उन्हें स्वास्थ्य समस्याओं के निदान के लिए सहायता मांगनी चाहिए। वृद्धजनों में सक्रिय और स्वस्थ वृद्धावस्था की अवधारणा को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए, इनमें स्वास्थ्य के रोकथाम, प्रोत्साहक, उपचार और पुनर्वास संबंधी पहलू शामिल हैं।

5.4: वृद्धजनों के अधिकार

वृद्धजनों के स्वास्थ्य में सुधार के लिए जन–संसाधन आवंटित करने के अनेक औचित्य हैं। पहला औचित्य है, मानव अधिकार। वृद्धजनों को यह अधिकार होना चाहिए कि स्वास्थ्य प्राप्त करने योग्य सर्वोच्च मानक

उन्हें मिले। यानि उनका स्वास्थ्य ज्यादा से ज्यादा बेहतर रहे। यह अधिकार अन्तर्राष्ट्रीय कानून में निहित है। लेकिन, केवल इस वजह से कि अब वे बूढ़े हो गए हैं, उन्हें निन्दा और भेदभाव का सामना करना पड़ता है, व्यक्तिगत, सामुदायिक तथा संस्थागत स्तरों पर उनके अधिकार का उल्लंघन किया जाता है। स्वस्थ्य वृद्धावस्था के लिए अधिकार आधारित नजरिया अपनाने से वृद्धजनों के अच्छे स्वास्थ्य के रास्ते में आने वाली कानूनी, सामाजिक और ढांचागत बाधाओं से निपटने में मदद मिलेगी तथा इन अधिकारों के सम्मान, संरक्षण और इन्हें पूरा करने के बारे में राज्यों तथा राज्य के अलावा अन्य संस्थानों की बाध्यताएं और दायित्व स्पष्ट होंगे।

स्वास्थ्य के बारे में मानव अधिकार आधारित नजरिया कहता है कि स्वास्थ्य के अधिकार में ''उन सामाजार्थिक कारकों को अंगीकार किया गया है जो लोगों के स्वस्थ जीवन के लिए आवश्यक परिस्थितियों को बढ़ावा देते हैं। तथा भोजन और पोषण, आवास, स्वच्छ पेयजल तथा पर्याप्त आरोग्यता, कार्य के सुरक्षित और स्वस्थ्य हालात तथा स्वस्थ वातावरण जैसे स्वास्थ्य निधारकों को भी इन अधिकारों के दायरे में रखा गया है।'' वृद्धजन स्वास्थ्य के प्राप्ति–योग्य सर्वोच्च मानक हासिल कर सकें, इसके लिए समुचित हालात तैयार करने में मदद के लिए अनेक प्रकार के कानून, नीतियां बनानी होंगी और कदम उठाने होंगे। निश्चय ही, स्वास्थ्य के अधिकार के अन्तर्गत राज्य किसी भी प्रकार के भेदभाव के बिना, ऐसी स्वास्थ्य सेवाएं, वस्तुएं और सेवाएं उपलब्ध कराने के लिए बाध्य है, जो उपलब्ध हों, स्वीकार्य हों तथा अच्छी गुणवत्ता वाली हों। राज्यों को क्रमिक विकास के सिद्धान्त के अनुरूप इस दिशा में आगे बढ़ना होगा। वृद्धजनों के मानवाधिकार से जुड़े स्वास्थ्य के अधिकार को पूरी तरह से साकार करने के लिए राज्यों को अपने उपलब्ध अधिकतम संसाधनों को इस दिशा में लगाना होगा। यहां उपलब्धता का मतलब है, सार्वजनिक स्वास्थ्य तथा स्वास्थ्य देखभाल सुविधाएं, वस्तु ओर सेवाएं तथा कार्यक्रम पर्याप्त संख्या में उपलब्ध हों।

वृद्धावस्था के संदर्भ में उपलब्धता का तात्पर्य यह देखना है कि स्वास्थ्य सुविधाएं, वस्तुएं और सेवाएं वृद्धजनों की स्वास्थ्य सम्बन्धी जरूरतों को किस हद तक पूरा कर रही हैं। इस रिपोर्ट से यह स्पष्ट हो जाएगा कि ये सेवाएं स्वास्थ्य प्रणाली द्वारा प्रदत्त सेवाओं से काफी अलग हैं।

स्वास्थ्य सुविधाओं, वस्तुओं और सेवाओं तक पहुंच के चार उप आयाम हैं। ये आयाम हैं– भेदभाव रहित, प्रत्यक्ष पहुंच, किफायती पहुंच तथा सूचना की पहुंच। ये सभी आयाम वृद्धजनों के लिए विशेष रूप से प्रासंगिक हैं, क्योंकि उन्हें आयु के आधार पर सेवाओं में कटौती, शारीरिक अक्षमता, जिससे सेवा तक पहुंच कठिन हो जाती है, उम्र के कारण आर्थिक असुरक्षा और साक्षरता से लेकर वेब आधारित सामग्री जैसी

सूचना संबंधी बाधाओं आदि का सामना करना पड़ सकता है। वृद्धजन वेब आधारित सामग्री से अनजान हो सकते हैं या हो सकता है कि इस सामग्री तक उनकी पहुंच ही न हो।

वृद्धजनों का स्वास्थ्य का अधिकार, चिकित्सा संबंधी नैतिक मूल्यों, पुरुष–महिला अनुकूलता तथा सांस्कृतिक रूप से समुचित नजरियों के अनुरूप स्वास्थ्य सुविधाओं, वस्तुओं और सेवाओं की स्वीकार्यता के तत्व को मान्यता देता है। उदाहरण के लिए, स्वीकार्यता के आकलन में यह भी ध्यान रखा जाता है कि क्या सेवाएं आयु के अनुकूल अथवा वृद्धजनों की जरूरतों के अनुकूल हैं और वृद्धजन जो कि एक सजातीय समूह नहीं है बल्कि अलग–अलग स्वास्थ्य जोखिमों और परिस्थितियों से ग्रस्त होते हैं, की विविधता को भी ध्यान में रखा जाता है। कम आय वाले देशों में, हो सकता है, सेवाएं उपलब्ध हों, लेकिन घंटों तक लाइन में खड़े रहना पड़ता है, लेकिन शारीरिक अक्षमता या बार–बार शौचालय जाने के आवश्यकता के कारण कई वृद्धजनों के लिए घंटों लाइन में लगे रहना दिक्कत भरा हो सकता है। कई देशों ने वृद्ध मरीजों को देखने के लिए एक अलग समय तय करके, बैठने के लिए कुर्सियां उपलब्ध कराके और वृद्धजनों को बार–बार शौचालय जाने से लाइन में अपनी बारी खोने का भय दूर करके वृद्धजनों की इन जरूरतों को पूरा करने के लिए कदम उठाए हैं।

स्वास्थ्य का अधिकार के चौथे तत्व में बेहतर सुविधाओं, वस्तुओं और सेवाओं के महत्व को रेखांकित किया गया है। वृद्धजनों की जरूरतों को बेहतर तरीके से पूरा करने के लिए, स्वास्थ्य प्रणाली में सुनिश्चित किया जाना चाहिए कि ये सुधार निरन्तर चलते रहें। इसके अलावा मानवाधिकारों में इस बात पर विशेष जोर दिया गया है कि देश इन मानकों के आधार पर वृद्धजनों की सेवाओं तक पहुंच की निगरानी करते रहें। इस कथन में भी सुदृढ़ और दैनिक सेवाओं के महत्व पर बल दिया गया है और ज्यादा स्पष्ट रूप से कहा जाए तो भेदभाव रहित सुविधा पाने का अधिकार में आयु के आधार पर भेदभाव नहीं होगा का अधिकार भी अन्तर्निहित है। इसका मतलब केवल यह नहीं है कि वृद्धजनों के भी वही अधिकार हैं, जो अन्य लोगों के हैं, बल्कि राज्य के लिए यह बाध्यकारी बनाया गया है कि वह वृद्धजनों के लाभ–वंचित और कमजोर समूहों तक पहुंचने का विशेष प्रयास करे और समता को बढ़ावा देने के लिए इन समूहों के लिए अलग से संसाधन उपलब्ध कराए। मानवाधिकार आधारित प्रयासों का मुख्य उद्देश्य यह है कि वृद्धजन अपने स्वास्थ्य और स्वस्थता के प्रति जागरूक बनें और इस बारे में सोच–समझ कर फैसले लें, यह भी व्यक्ति केन्द्रित सार्वजनिक स्वास्थ्य उपगम का एक अहम तत्व है। नीतियों और कार्यक्रमों का उद्देश्य वृद्धजनों का सशक्तिकरण है ताकि वे जहां तक सम्भव हो अपने समुदाय का सक्रिय सदस्य बने रहकर अपनी क्षमता के अनुसार योगदान दे सकें। लेकिन, सार्थक सहभागिता और सामुदायिक नेतृत्व की निरन्तरता सुनिश्चित करने के लिए वित्तीय और तकनीकी सहयोग अपेक्षित होगा। यह सुनिश्चित करना कि मानवाधिकारों पर

ध्यान दिया जाए, वृद्धजनों के बेहतर स्वस्थ जीवन के लिए किए जाने वाले प्रयासों को और भी अहम बना देता है और इसके लिए जवाबदेही सुनिश्चित करना उतना ही अहम है। जवाबदेही सुनिश्चित होने से लोग अपने अधिकारों की मांग करने में सक्षम बनते हैं। स्वास्थ्य के लिए जवाबदेही बढ़ाने के लिए अनेक तंत्रों का उपयोग किया जा सकता है, इसमें अन्तर्राष्ट्रीय, क्षेत्रीय तथा राष्ट्रीय स्तर पर मानवाधिकार तंत्र भी शामिल है। इसके साथ ही राष्ट्रीय वृद्धावस्था समितियां अथवा निगरानी, शिकायत तथा समाधान प्रक्रियाएं भी बनाई जा सकती हैं। इनसे वृद्ध लोगों के साथ हिंसा जैसे अप्रत्यक्ष मुद्दों का पता लगाने में भी मदद मिलेगी। उदाहरण के लिए एशिया पैसिफिक फोरम ऑफ नेशनल ह्यूमन राइट्स इन्स्टीट्यूशन्स ने संस्थागत देखभाल में वृद्धजनों के साथ भेदभाव और बदसलूकी की ओर ध्यान आकर्षित करने में सहायता की थी और इस संस्थागत देखभाल की व्यक्तिगत प्रकृति के बजाय व्यवस्थागत प्रकृति की खामियों को उजागर किया था। इसके समाधान के लिए सभी सैक्टरों और डोमेन तथा मानव अधिकार, सार्वजनिक स्वास्थ्य एवं वृद्धजनों के हितैषियों द्वारा कार्रवाई की जानी चाहिए।

5.5: वृद्धावस्था, स्वास्थ्य और विकास

वृद्धावस्था और स्वास्थ्य पर कार्रवाई करने का दूसरा प्रमुख औचित्य स्थाई विकास को बढ़ावा देना है। ज्यादातर लोग वृद्धावस्था का जीवन जीएंगे और वृद्धजनों की आबादी बढ़ती ही जाएगी। यदि हमें एक सशक्त, शान्तिपूर्ण, समतापूर्ण और सुरक्षित समाज का निर्माण करना है तो इस जननांकिकी अन्तरण (प्रौढ़ावस्था से वृद्धावस्था में प्रवेश) को ध्यान में रखना होगा और विकास में वृद्धजनों का सहयोग लेने तथा उन्हें साथ लेकर चलने के लिए प्रयास करने ही होंगे।

वृद्धजन अनेक तरह से विकास में योगदान देते हैं। अन्न उत्पादन और भावी पीढ़ियों का मार्गदर्शन इसके उदाहरण हैं। विकास की प्रक्रिया में वृद्धजनों को शामिल करने से एक समतामूलक समाज के निर्माण में तो मदद मिलेगी ही साथ ही उनके योगदान को समर्थन या सहयोग देने से विकास की प्रक्रिया में तेजी भी आएगी। यदि विकास प्रक्रिया में वृद्धजनों के योगदान की अनदेखी की जाएगी तो इससे उनकी खुशहाली और योगदान तो प्रभावित होगा ही, अन्य पीढ़ियों की खुशहाली और उत्पादकता पर भी असर पड़ेगा। उदाहरण के लिए, पहुंच–योग्य या किफायती स्वास्थ्य देखभाल उपलब्ध नहीं होगा तो वृद्ध व्यक्ति के उच्च रक्तचाप का इलाज नहीं होगा और उसे मस्तिष्क आघात (स्ट्रोक) पड़ेगा। इससे परिवार उनसे मिलने वाली सुरक्षा से तो वंचित होगा ही, साथ ही परिवार के अन्य सदस्यों (आमतौर पर महिलाएं और लड़कियां) को उनकी देखभाल करनी होगी और वे अपना कार्य या अध्ययन नहीं कर पायेंगी। वृद्धजनों की अनदेखी से विकास प्रक्रिया पर पड़ने दुष्प्रभाव लोगों के लिए ही नहीं पूरे समाज के लिए नुकसानदायक हैं।

5.6: राष्ट्रीय वृद्धजन स्वास्थ्य देखभाल कार्यक्रम (एनपीएचसीई)

एनपीएचसीई विकलांग व्यक्तियों के अधिकारों के बारे में संयुक्त राष्ट्र समझौते के तहत यथा–प्रस्तावित अन्तर्राष्ट्रीय तथा राष्ट्रीय प्रतिबद्धताओं को पूरा करने के लिए सरकार द्वारा बनाया गया एक कार्यक्रम है। भारत सरकार ने 1999 में राष्ट्रीय वृद्धजन नीति को अपनाया था तथा वरिष्ठ नागरिकों की चिकित्सा देखभाल के प्रावधान को ''माता–पिता तथा वरिष्ठ नागरिक अनुरक्षण एवं कल्याण अधिनियम, 2007'' की धारा 20 में शामिल किया था।

5.6.1: एनपीएचसीई का ध्येय

1. वृद्धजनों को पहुंच योग्य, किफायती और उच्च गुणवत्ता-युक्त, दीर्घकालिक, व्यापक और अनन्य देखभाल सेवाएं उपलब्ध कराना;
2. वृद्धावस्था के लिए एक नया ''ढांचा'' तैयार करना;
3. ''सभी आयु वर्ग के लोगों के समुदाय'' के लिए एक समर्थकारी वातावरण बनाने के वास्ते एक फ्रेमवर्क तैयार करना;
4. सक्रिय तथा स्वस्थ वृद्धावस्था को बढ़ावा देना।

5.6.2: एनपीएचसीई के विशिष्ट उद्देश्य

- समुदाय आधारित प्राथमिक स्वास्थ्य-देखभाल (पीएचसी) उपागम के द्वारा प्रोत्साहक, निवारक, आरोग्यकर, पुनर्वास सेवाएं प्रदान करना।
- वृद्धजनों की स्वास्थ्य समस्याओं का पता लगाना तथा समुदाय को मजबूत रैफराल व्यवस्था से युक्त समुचित स्वास्थ्य व्यवस्था उपलब्ध कराना।
- वरिष्ठ नागरिकों को स्वास्थ्य-देखभाल उपलब्ध कराने के लिए चिकित्सा तथा अर्ध-चिकित्सा व्यवसाइयों एवं परिवार के सेवा करने वाले लोगों को सक्षम बनाना।
- जिला अस्पतालों, क्षेत्रीय चिकित्सा संस्थानों के माध्यम से वृद्धजनों को रैफराल सेवाएं प्रदान करना।
- राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन (एनआरएचएम), आयुष तथा सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय जैसे अन्य समवर्गीय विभागों के साथ समायोजन।

5.6.3: एनपीएचसीई के उद्देश्यों को प्राप्त करने की कार्यनीतियां

- समुदाय आधारित पीएचसी उपगम और प्रशिक्षित स्वास्थ्य कर्मियों द्वारा घरों का दौरा।
- पीएचसी/सामुदायिक स्वास्थ्य केन्द्र (सीएचसी) के स्तर पर अनन्य (डेडीकेटिड) सेवाएं तथा मशीनरी, उपकरण, प्रशिक्षण, अतिरिक्त मानव संसाधन, सूचना, शिक्षा और संचार (आईईसी) आदि का प्रावधान।
- जिला अस्पतालों में 10 बिस्तर वाले वार्ड के साथ अनन्य सुविधाएं, अतिरिक्त मानव संसाधन मशीनरी और उपकरण, उपभोज्य तथा औषधिया, प्रशिक्षण और आईईसी।
- वृद्धजनों को तृतीयक स्तर की अनन्य चिकित्सा सुविधाएं प्रदान करने के लिए 8 क्षेत्रीय चिकित्सा संस्थानों का सुदृणीकरण, जरायु चिकित्सा में स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम शुरू करना तथा सभी स्तरों पर स्वास्थ्य कर्मियों को सेवाकालीन प्रशिक्षण।
- लक्षित समूहों तक पहुंच के लिए मास मीडिया, फॉक मीडिया तथा अन्य संचार साधनों का उपयोग।
- जरायु विज्ञान में शोध तथा कार्यक्रमों और एनपीएचसीई के कार्यान्वयन की सतत् निगरानी तथा स्वतंत्र मूल्यांकन।
- जरायु स्वास्थ्य देखभाल में सार्वजनिक–निजी भागीदारी को बढ़ावा देना।
- आयुष को मुख्यधारा में लाना– स्वास्थ्य की स्थानीय परम्पराओं को फिर से जीवित करना और जरायु–विज्ञान के क्षेत्र में सामाजिक न्याय और अधिकारता मंत्रालय के कार्यक्रमों के साथ इन्हें मिलाना।
- जरायु से जुड़े मुद्दों में सहयोग के लिए चिकित्सा शिक्षा का पुनराभिमुखीकरण।

5.6.4: एनएचपीसीई से अपेक्षित परिणाम

- आठ क्षेत्रीय चिकित्सा संस्थानों में अनन्य रूप से जरायु बहिरंग रोगी विभाग (ओपीडी) और 30 बिस्तर वाले वार्ड के साथ केन्द्रीय जरायु केन्द्रों (आरजीसी) की स्थापना जो वृद्धजनों के विशेष रोगों का ही इलाज करेंगे और जरायु स्वास्थ्य–देखभाल स्वास्थ्य–कार्मिकों को प्रशिक्षण तथा अनुसंधान।
- आठ क्षेत्रीय चिकित्सा संस्थानों से जरायु चिकित्सा में स्नातकोत्तर।
- 8 क्षेत्रीय चिकित्सा संस्थानों में वीडियो कॉन्फ्रेन्सिंग इकाईयों की स्थापना। इनका उपयोग क्षमता निर्माण और निगरानी के लिए किया जाएगा।

- 80–100 जिला अस्पतालों में अनन्य रूप से जरायु ओपीडी और 10 बिस्तर वाले जरायु वार्ड से युक्त जिला जरायु इकाईयां।
- चयनित जिलों के सामुदायिक/प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों में घरेलू मुआयने के लिए जरायु क्लीनिकों/पुनर्वास इकाईयों की स्थापना।
- सामुदायिक सम्पर्क सेवाओं के लिए उपकरण से लैस उपकेन्द्रों की स्थापना।
- सार्वजनिक स्वास्थ्य–देखभाल प्रणाली में मानव संसाधनों को जरायु देखभाल का प्रशिक्षण देना।

5.6.5: एनपीएचसीई के अन्तर्गत सर्विस पैकेज

इस कार्यक्रम में यह प्रस्तावित है कि विभिन्न सरकारी स्वास्थ्य सेवाओं में सभी वृद्धजनों के लिए एक समन्वित तरीके से प्रोत्साहक, निवारक, आरोग्यकर और पुनर्वास सेवाएं उपलब्ध कराई जाएं। यह सर्विस पैकेज स्वास्थ्य सुविधाओं के स्तर पर निर्भर करेगा और अलग–अलग सुविधाओं के लिए अलग–अलग होगा। इस पैकेज में स्वास्थ्य संवर्धन, निवारक सेवाएं, जरायु इलाज की समस्याओं का निदान और नियंत्रण (आउट और इन पेशेंट), डे–केयर सेवाएं, पुनर्वास सेवाएं और आवश्यकता अनुसार घर में ही देखभाल सेवाएं शामिल होंगी। तृतीयक स्तर की देखभाल के लिए जिलों को आरजीसी से लिंक किया जाएगा। इस कार्यक्रम के तहत जिला स्तर से नीचे भी जोड़ा जाएगा और मौजूदा पीएचसी प्रणाली का अभिन्न अंग बनाया जाएगा तथा वृद्धजनों के लिए चूंकि और ज्यादा स्पेशलिस्ट स्वास्थ्य देखभाल की आवश्यकता होगी इन्हें उर्ध्ववत रूप में जिलों और उससे उपर तक लिंक किया जाएगा।

5.6.6: एनएचपीसीई के तहत सर्विस पैकेज अलग–अलग स्तरों पर उपलब्ध कराया जाना

इस कार्यक्रम में प्रस्तावित है कि विभिन्न सरकारी स्वास्थ्य सेवाओं में सभी वृद्धजनों के लिए एक समन्वित तरीके से प्रोत्साहक, निवारक, आरोग्य कर और पुनर्वास सेवाएं उपलब्ध कराई जाए। यह सर्विस पैकेज स्वास्थ्य सुविधाओं के स्तर पर निर्भर करेगा और अलग–अलग सुविधाओं के लिए अलग–अलग होगा। इस पैकेज में स्वास्थ्य संवर्धन, निवारक सेवाएं, जरायु इलाज की समस्याओं का निदान और नियंत्रण (आउट और इन पेंशेंट), डे केयर सेवाएं, पुनर्वास सेवाएं और आवश्यकतानुसार घर में ही देखभाल सेवाएं शामिल होगी। तृतीयक स्तर की देखभाल के लिए जिलों को आरओसी से लिंक किया जाएगा।

कार्यक्रम के तहत सेवाओं को जिला स्तर से नीचे भी जोड़ा जाएगा और इन्हें मौजूदा पीएचसी प्रदायगी प्रणाली का अभिन्न अंग बनाया जाएगा और वृद्धजनों के लिए आवश्यक और अधिक स्पेशिलिस्ट स्वास्थ्य–देखभाल के वास्ते ऊर्ध्वावत रूप में जिलों और इससे उपर लिंक किया जाएगा।

5.6.7: एनएचपीसीई के कार्यान्वयन के लिए संस्थागत फ्रेमवर्क

एनआरएचएम के तहत राज्यों और जिलों में कार्यक्रम प्रबंधन सहयोग इकाईयों के वित्तीय प्रबन्धन समूह (एफएमजी) स्थापित किए गए हैं। ये समूह (ग्रुप) निधियां जारी करने, व्यय रिपोर्ट, उपयोग संबंधी प्रमाण–पत्र और ऑडिट (लेखा–परीक्षा) और खाते रखने का दायित्व संभालेंगे। कार्यक्रम संचालन के लिए विभिन्न स्तरों पर कार्यकलाप निष्पादित करने के लिए राज्य स्वास्थ्य संगठनों (एसएचएस) के माध्यम से धनराशि जारी की जाएगी। एसएचएस से जिलों को जारी निधियों में अन्य बातों के साथ–साथ सीएचसी, पीएचसी तथा अन्य उपकेन्द्रों के लिए निधियां शामिल होगी, ताकि पूरे जिले को कवर किया जा सके।

भारत सरकार एसएचएस को इस कार्यक्रम से निधियां जारी करेगी। एसएचएस राज्य स्तर के कार्यकलापों के लिए धनराशि अपने पास रखेगी और डीएचएस को सहायता अनुदान जारी करेगी। एनपीएचसीई इस कार्यक्रम के तहत राज्य और जिला स्तर पर गठिन प्रकोष्ठों के माध्यम से काम करेगा और प्रत्येक स्तर पर अलग–अलग बैंक खाते रखेगा। समुचित स्तर पर अपेक्षित अनुमोदन मिलने के बाद एनसीडी के बैंक खातों में स्वास्थ्य संस्थाओं से धनराशि ट्रान्सफर की जाएगी।

यह प्रणाली विशिष्ट व्यवस्थाओं के माध्यम से इस कार्यक्रम के लक्ष्य हासिल करने में परस्पर तालमेल और पारदर्शिता सुनिश्चित करेगी। प्रस्ताव है कि कार्यक्रम की मौजूदा गति बनाए रखने और इस पर निरन्तर ध्यान केन्द्रित करने के लिए राज्य स्तर के कार्यक्रम (एसएचएस) और जिला स्तर के कार्यक्रम (डीएचएस) में क्रमशः विलय कर दिया जाए।

हालांकि, एनपीएचसीई संस्थागत स्वास्थ्य देखभाल प्रणाली में स्वास्थ्य संबंधी अधिकांश समस्याओं का समाधान करता है लेकिन इसमें परिवार में रहने वाले वृद्धजनों की गृह-आधारित देखभाल (घर पर ही देखभाल) की पूरी तरह अनदेखी की गई है। बेहतर होता कि इसमें इलाज के बजाय परिवारों को जागरुक बनाने और उन्हें संभावित आकस्मिकताओं के लिए तैयार करने पर ध्यान दिया जाता। राष्ट्रीय ध्येय रखने के अलावा, इस नीति में विकेन्द्रीकृत ध्येय होना चाहिए। इससे यह एकतंत्रीय राज्य संचालित प्रणाली की बजाय मांग संचालित प्रणाली बन सकती है। जैसा कि अधिकांश राष्ट्रीय कार्यक्रमों और नीतियों में होता है। इस नीति में भी क्षेत्रीय मुद्दों पर ध्यान नहीं दिया गया है, जबकि हर क्षेत्र के मुद्दे भी अलग–अलग होते हैं। भारत जैसे देश में यह जरुरी है कि परिवार वृद्धजनों की देखभाल करें, लेकिन इस नीति में परिवार किस तरह अपने वृद्धजनों से बर्ताव करे और उनकी देखभाल करे, इस बारे में कोई प्रोत्साहक प्रावधान नहीं किया गया है।

एनपीएचसीई वृद्धजनों की तेजी से बढ़ती आबादी की देखभाल के क्षेत्र में एक अच्छी और नई पहल है। इसमें कार्यान्वयन और समन्वयन पर ज्यादा ध्यान देने की आवश्यकता है ताकि भारत में सक्रिय तथा स्वस्थ वृद्धावस्था को प्रोत्साहन मिल सके।

5.7 सारांश

ईकाई के अध्ययन करके के पश्चात् आप;

1. वृद्ध लोगों की जनाकिकी से अवगत हो चुके हैं।
2. वृद्ध लोगों के अधिकारों से परिचित हो गये हैं।
3. वृद्धावस्था, स्वास्थ्य एवं विकास की अवधारणा को जान चुके हैं।
4. राष्ट्रीय वृद्धजन स्वास्थ्य देखभाल कार्यक्रम (NIHCE) के उद्देश्यों तथा इनकी प्राप्ति हेतु कार्यक्रम के ध्येय व वर्णित कार्यनीतियों से अवगत हो चुके हैं।
5. इस कार्यक्रम को अन्य अवययों को भी जान चुके हैं।

5.8 शब्दावली

1. **रुग्णता (Morbidity)** : यह प्रदर्शित करता है कि एक जनसंख्या में कितने लोग अस्वस्थ अथवा रुग्णता से ग्रसित हैं।
2. **पराश्रितता (Depandancy)** : पराश्रितता ऐसी स्थिति है, जिसमें व्यक्ति परिवार के अन्य व्यक्तियों,समाज या सरकार पर निर्भर हो।
3. **उत्तरजीवितता (Life Expectancy)** : उत्तरजीवितता (जीवन प्रत्याशा) जन्म के समय जीवित होने की संभावना को उत्तरजीवितता कहा जाता है। वर्ष 2015 भारत में यह 68.35 वर्ष थी, जबकि संयुक्त राज्य अमेरिका में 78.74 थी।

5.9 अभ्यास प्रश्न

1. संयुक्त राष्ट्र संघ (UN) के अध्ययन में 2050 तक वृद्धजनों की जनसंख्या कितनी हो जायेगी?
   (अ) 3 अरब (ब) 1.5 अरब (स) 2 अरब (द) 2.5 अरब
2. विश्व स्वास्थ्य संगठन (WHO) के अनुमान के अनुसार 2015 तक केन्सर हाइपरटेन्शन, हृदय रोग, डाइवीटीज जैसी बीमारियों से मरने वालों की संख्या कितनी थी?
   (अ) 17 मिलियन (ब) 15 मिलियन (स) 35 मिलियन (द) 41 मिलियन

3. संयुक्त राष्ट्र महासभा ने वृद्धावस्था पर पहला सम्मेलन कब बुलाया?
   (अ) 1947 (ब) 1939 (स) 1992 (द) 1950

4. भारत में 2011 की जनगणना में 60 वर्ष या इससे अधिक आयु के लोगों की जनसंख्या का प्रतिशत क्या है?
   (अ) 8.6 प्रतिशत (ब) 7.7 प्रतिशत (स) 6.0 प्रतिशत (द) 5.8 प्रतिशत

5. 2006–11 के दौरान भारत में महिलाओं के लिए उत्तरजीवितता कितने वर्ष थी?
   (अ) 65 वर्ष (ब) 67.22 वर्ष (स) 70.4 वर्ष (द) 68.9 वर्ष

अभ्यास प्रश्नों के उत्तर–

1. स 2. द 3. ब 4. अ 5. ब

5.10 संन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. एल्डरली इन इंडिया– प्रोफाइल एण्ड प्रोग्राम्स 2016, नई दिल्ली, सांख्यिकी और कार्यक्रम कार्यान्वयन मंत्रालय, भारत सरकार, 2016
2. काबो आर, ले काउटे डीजी, दी बायलॉजी ऑफ एजिंग, हैरीसन्स प्रिन्सिपल्स ऑफ इन्टर्नल मेडीसिन, 19वां संस्क., यू. एस ए, मैकग्रयू हिल्स एजूकेशन, 2015; 94:1–7
3. पार्क के. पार्क्स टैक्स्ट बुक ऑफ सोशल एण्ड प्रिवेन्टिव मेडिसिन, 23वां संस्करण, बनारसीदास भानोट पब्लिशर्स, 2015: 44 : 594
4. डिविजन ऑफ जेरिएट्रिक्स एण्ड क्लीनिकल जेरोन्टोलॉजी, क्लीनिकल जेरोन्टोलॉजी ब्रान्च, 2016
5. टूडेज रिसर्च ऑन एजिंग, इन्डियाज एजिंग पॉप्पूलेशन, पाप्यूलेशन रिफरेंस ब्यूरो, 2012
6. सुज़मैन आर.एम., हग्गा जे.जी., वर्ल्ड डेमोग्राफी ऑफ एजिंग, इन : कैस्पर डीएल, हाउजर एस एल, जेमसन एस एल, कॉरुसी एसएस, लौन्गो डी एल, लॉस्काल्जो जे, एडिटर्स हैरिसन्स प्रिन्सीपल्स ऑफ इन्टरनल मेडिसिन, 19वां संस्करण, मैकग्रयू हिल एजूकेशन, 2015 93:15
7. जन स्वास्थ्य पर वार्षिक रिपोर्ट, स्वास्थ्य और परिवार कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार, 2011

5.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. वर्ल्ड पॉप्यूलेशन एजिंग, पांचवी रिपोर्ट, न्यूयॉर्क; पॉप्पूलेशन डिवीजन ऑफ युनाइटेड नेशन्स : 2015
2. वर्ल्ड रिपोर्ट ऑन एजिंग एण्ड हैल्थ, विश्व स्वास्थ्य संगठन जिनेवा, 2015

5.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. विश्व व भारत में वृद्धजनों की बढ़ती आबादी पर प्रकाश डालिये।
2. वृद्धजनों के अधिकारों के बारे में एक लेख लिखिये।
3. बढ़ती वृद्धावस्था, स्वास्थ्य व विकास के परस्पर सम्बन्धों पर टिप्पणी कीजिये।
4. भारत सरकार के वृद्धजन राष्ट्रीय स्वास्थ्य देखभाल कार्यक्रम (NPHCE) के प्रमुख अवययों पर की चर्चा कीजिये।

इकाई -6

पार्सन का रोगी भूमिका सिद्धांत (Parson's Sick Role Theory)

6.1: उद्देश्य

6.2: परिचय

6.3: चिकित्सकीय समाजशास्त्र का उभार

6.4: चिकित्सकीय समाजशास्त्र का कार्य

6.5: स्वास्थ्य और उपचार के समाजशास्त्रीय सिद्धान्त

6.6: पार्सन का दृष्टिकोण

6.6.1: क्या रोग विशुद्ध जैविक है?

6.7: बीमारी की बाधा

6.8: रोग भूमिका

6.8.1: रोगी के अधिकार एवं कर्तव्य

6.8.2: स्वेच्छावाद एवं बीमारी

6.8.3: चिकित्सक की भूमिका

6.9: सामाजिक नियंत्रण एवं उपचार

6.10: पार्सन के दृष्टिकोण की आलोचना

6.11: निष्कर्ष

6.12: अभ्यास प्रश्न

6.13: सन्दर्भ

6.1: उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के जरिये हम जान पायेंगे कि स्वास्थ्य एवं उपचार को लेकर कार्यानुरूप दृष्टिकोण क्या कहता है। इसके साथ ही हम स्वास्थ्य और उपचार के विषय में पार्सन के सिद्धान्त को भी विस्तार से समझ सकेंगे।

6.2: परिचय (Introduction)

स्वास्थ्य एवं उपचार का समाजशास्त्र, समाजशास्त्र की ही एक शाखा है, जो बुनियादी मुद्दों की विस्तृत श्रृंखला और विशेषकर सामाजिक कारकों तथा स्वास्थ्य के संबंधों को स्पष्ट करती है। इसके जरिये बीमारी को लेकर सामाजिक कारकों और सामाजिक क्रियाओं तथा बीमारी से संबंधित परिस्थितियों का विश्लेषण किया जाता है। स्वास्थ्य एवं उपचार का समाजशास्त्र के उद्देश्य को हम इस तरह बेहतर समझ सकते हैं कि मानव व्यवहार को सामाजिक और जैविक सन्दर्भों से बेहतर जाना जा सकता है। 19वीं सदी के प्रतिष्ठित समाज विज्ञानियों ने तर्क दिया है कि मानव के सामाजिक जीवन को सिर्फ जैविक अध्ययनों के जरिये समझ पाना मुश्किल है, क्योंकि यहां सामाजिक संबंध और संस्कृति की भी अहम भूमिका होती है। वे मानते हैं कि इस बात में कोई संदेह नहीं कि जैविक आधार ही बुनियाद है, लेकिन स्वास्थ्य और बीमारी को समझने के लिये आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक कारकों का भी अध्ययन करना नितांत आवश्यक है। इसीलिये जैविक आधार ही एकमात्र विकल्प नहीं है। रोग की उपस्थिति और इसके निदान की व्याख्या सिर्फ जैविक या पर्यावरणीय आधार पर ही करना संभव नहीं। यही वजह है कि समाजशास्त्र की यह शाखा यह अध्ययन करती है कि प्राकृतिक कारणों के अलावा वे कौन सी सामाजिक–आर्थिक वजहें रहीं, जो रोग को प्रभावित करती हैं। संक्षेप में कहें तो स्वास्थ्य एवं उपचार का समाजशास्त्र स्वास्थ्य के जनसांख्यिकीय और प्रशासनिक विश्लेषण से आगे जाकर जनसंख्या की स्वास्थ्य स्थिति (Health Status of Population) को स्पष्ट करता है। (Sujatha 2014)

6.3: चिकित्सकीय समाजशास्त्र का उभार (Emergence of Medical Sociology)

स्वास्थ्य एवं उपचार का समाजशास्त्र विश्व के कई भागों में विकसित हुआ और आधुनिक चिकित्सा व्यवस्था के विकास के बाद तेजी से उभरा। 20वीं सदी में यह सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवा में उपचार का आधिकारिक माध्यम बन गया। समाज विज्ञानियों ने पाया कि स्वास्थ्य सेवा के क्षेत्र में नयी तकनीकों और विशेषज्ञता के बढ़ने के साथ स्वास्थ्य से जुड़े सामाजिक कारणों की उपेक्षा की जाने लगी थी, परिणामस्वरूप बीमारियों के संबंध में न्यूनकारी दृष्टिकोण विकसित हुआ, जो समाजशास्त्रियों के लिये महत्वपूर्ण विषय था। स्वास्थ्य एवं उपचार के समाजशास्त्र के विकास के कुछ प्रारंभिक कारण निम्नवत हैं:

- संक्रामक बीमारियों के बजाय अब पुरानी अपक्षयी बीमारियां रुग्णदर और मृत्युदर की बढ़ोतरी की वजह बन गयी थीं
- चिकित्सकों के न्यूनकारी दृष्टिकोण के बजाय समाज विज्ञानियों ने बीमारी और स्वास्थ्य से जुड़े व्यावहारिक पहलुओं की ओर ध्यान केन्द्रित किया
- समाज विज्ञानी मरीज और डॉक्टर के पदानुक्रम (Heirarchical) संबंधों के पक्षधर नहीं थे
- समाज विज्ञानियों ने स्वास्थ्य सेवाओं के जटिल ढांचे के कारण बढ़ते द्विपक्षीय मॉडल का विरोध किया

इसी दौर में बाहरी संस्थान, जैसे मेडिकल स्कूल, सरकारी एजेंसियां, भी स्वास्थ्य क्षेत्र में रुचि लेने लगे थे, जिसके चलते स्वास्थ्य समाजशास्त्र संस्थानीकृत (Institutionalised) होता गया। संक्षेप में कहें तो स्वास्थ्य एवं उपचार का समाजशास्त्र चिकित्सकीय उपचार की उच्च विशेषज्ञता एवं एकल संस्कृति की प्रतिक्रिया था। उदाहरण के लिये उत्तरी अमेरिका में वर्ष 1910 में तत्कालीन सभी प्रचलित उपचार पद्धतियों को प्रतिबंधित कर दिया गया, यही वजह रही कि 1950 में चिकित्सकीय उपचार के एकाधिकार के विरोध में समाजशास्त्र ने तेजी पकड़ी और सामान्य सिद्धान्तों के बजाय व्यावहारिक परेशानियों पर ध्यान केन्द्रित किया। चिकित्सा विशेषज्ञों, शोधकर्ताओं, स्वास्थ्य प्रशासकों, रोगियों और स्त्री अधिकारवादी अभियानों के चलते यह एक सैद्धान्तिक शाखा के रूप में स्थापित हुआ। 19वीं सदी के ब्रिटेन में चिकित्सकीय उपचार बेहद सफल और एकाधिकारवादी पेशा बन गया था, जबकि अमेरिका में यह 20वीं सदी में उभार पर आ सका। इस दौरान वर्ष 1930 तक उपचार का तकनीकी विकास चरम पर था, लेकिन द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद औषधीय उपचार का प्रभुत्व बढ़ता गया। स्टेसी का तर्क है कि स्वास्थ्य एवं उपचार के समाजशास्त्र को विकसित करने का एक बड़ा कारक सामाजिक उपचार (Socialo Medicine) है। उपचार की अन्य पद्धतियों से जुड़े विशेषज्ञों ने पाया कि तत्कालीन जैवउपचार व्यवस्था में सामाजिक कारकों को कोई महत्व नहीं दिया जा रहा है, जबकि रोगों के उपचार में इनकी खासी अहमियत है।

सामाजिक उपचार दृष्टिकोण (Social Medicine Approach)

कादिर (2010) बताते हैं, 'सार्वजनिक स्वास्थ्य अलग–अलग लोगों के लिये अलग–अलग अर्थ को उभारता है। सफाई के दृष्टिकोण से देखें तो कभी इसे स्वच्छता, हाईजीन और स्वास्थ्य शिक्षा से जोड़कर देखा जाता है। वर्तमान में तकनीक केन्द्रित दृष्टिकोण (जो स्वास्थ्य के सभी सामाजिक–आर्थिक पहलुओं को नकार देता है) का आधिपत्य है, जहां विशेषज्ञों और सेवाप्रदाताओं से यह अपेक्षा की जाती है कि वे स्वास्थ्य की सुरक्षा और रोगों के नियंत्रण के लिये तकनीकों का ही इस्तेमाल करें।' एक अन्य दृष्टिकोण में समग्रता को शामिल करते हुये स्वास्थ्य एवं स्वास्थ्य सेवाओं के सामाजिक सन्दर्भों को तवज्जो दी जाती है, जिससे संरक्षण की प्रक्रिया तकनीक और शैक्षिक पहलुओं से आगे विकास एवं कल्याण की गतिविधियों से जुड़ती है और बुनियादी जरूरतों को पूरा कर पाती है। इसमें स्वास्थ्य, भोजन की उपलब्धता, पेयजल, स्वच्छता और आजीविका के अंतर्संबंधों तथा पहुंच व तकनीकी उपलब्धता के रास्ते में आने वाली बाधाओं पर भी ध्यान केन्द्रित किया जाता है। कादिर ने इस दृष्टिकोण को सामाजिक उपचार दृष्टिकोण बताया है। जिन देशों में सामाजिक उपचार दृष्टिकोण के जरिये कल्याण प्रक्रिया में समानता का लक्ष्य हासिल नहीं किया जा सका है वहां सामाजिक समस्याओं को तकनीकी समस्याएं करार देते हुये स्वास्थ्य सेक्टर पर थोप दिया गया है। इसकी मुख्य वजह यह है कि नियोजन में उत्पादन, पुनरुत्पादन, श्रम ढांचे, निर्धनता, जाति–वर्ग वर्गीकरण और पितृसत्तात्मकता आदि के अंतर्संबंधों का ध्यान नहीं रखा गया। इन महत्वपूर्ण पहलुओं की अनुपस्थिति सामाजिक नियोजन को सार्वजनिक स्वास्थ्य के समग्र दृष्टिकोण के बजाय तकनीक केन्द्रित समाधान बना देती है जो आगे चलकर उन बुनियादी पहलुओं की उपेक्षा की वजह बनती है, जो इन समस्याओं की सामाजिक जड़ होती हैं।

6.4: चिकित्सकीय समाजशास्त्र का कार्य (Task of Medical Sociology)

स्वास्थ्य एवं उपचार के समाजशास्त्र के कार्य चुनौतीपूर्ण होते हैं, क्योंकि इसे उन सामाजिक पहलुओं की तलाश करनी होती है जो स्वास्थ्य, रोग और उपचार को प्रभावित करते हैं, साथ ही इन घटनाओं को अपने सिद्धान्तों और मॉडल के रूप में अवधारित करना होता है। चिकित्सकीय समाजशास्त्र का सबसे प्रमुख लक्ष्य स्वास्थ्य, बीमारी और उपचार पर सांस्कृतिक, सामाजिक ढांचे के प्रभाव को स्पष्ट करना तथा अंतर्अनुशासनात्मक स्वरूप में स्वतंत्र–समालोचनात्मक विश्लेषण, जांच करना है। इसके जरिये समाज विज्ञानी समाज और स्वास्थ्य के संबंधों का अध्ययन–विश्लेषण करते हैं। वे यह परीक्षण करते हैं कि किस तरह सामाजिक जीवन रुग्णदर एवं मृत्युदर को प्रभावित करता है और किस तरह रुग्णदर एवं मृत्युदर समाज पर असर डालते हैं। दुर्खेम ने अपने अध्ययन में पाया कि किस तरह सामाजिक एकीकरण और समन्वय मृत्युदर को प्रभावित करता है (Link & Phelan, 1995). स्वास्थ्य एवं उपचार का समाजशास्त्र बताता है कि परिवार, कार्यस्थल, स्कूल, धर्म आदि जैसे सामाजिक संस्थान किस तरह स्वास्थ्य को प्रभावित करते हैं। यह रोगों–बीमारियों के कारणों की पड़ताल करता है, खास देखभाल की जरूरत की वजहों को स्पष्ट करता है। उदाहरण के लिये, मानसिक बीमारियों के लिये लोग अस्पताल में इलाज करवाने के बजाय आध्यात्मिक उपचार की शरण को क्यों प्राथमिकता देते हैं। स्वास्थ्य या स्वास्थ्य की कमी, किसी समय सिर्फ जैविक या प्राकृतिक परिस्थितियों का ही हिस्सा मानी जाती थीं। समाज विज्ञानियों ने स्पष्ट किया कि बीमारियों का प्रसार व्यक्तियों की सामाजिक–आर्थिक परिस्थितियों, पारंपरिक रीतियों, विश्वास और अन्य सांस्कृतिक कारकों से भी प्रभावित होता है। चिकित्सकीय शोध किसी बीमारी के संबंध में सांख्यिकीय आंकड़े जुटा सकता है, लेकिन समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण गहराई से उन बाहरी पहलुओं की जानकारी देता है जिनकी वजह से कोई आबादी बीमारी की चपेट में आती है।

6.5: स्वास्थ्य एवं उपचार के समाजशास्त्रीय सिद्धान्त (Sociological Theories of Health and medicine)

स्वास्थ्य एवं बीमारी के समाजशास्त्रीय सिद्धान्त रोगों के जैविक मॉडल की उपेक्षा करते हैं। समाजशास्त्रीय सिद्धान्त रोगों के जैवचिकित्सकीय और रोगविज्ञान आधारित कारणों के बजाय इनकी उत्पत्ति के सामाजिक कारणों और सामाजिक कारकों के इन पर प्रभाव पर केन्द्रित होते हैं। समाज विज्ञान ने स्वास्थ्य एवं रोगों को सामाजिक चिकित्सा के नजरिये से देखने का प्रयास किया है। विभिन्न समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण इस प्रक्रिया में विकसित हुये हैं। इनकी मदद से विभिन्न बीमारियों के सामाजिक कारण और चिकित्सा ज्ञान की भूमिका की जानकारी मिलती है। इस इकाई में हम आगे जानेंगे कि स्वास्थ्य एवं उपचार के क्षेत्र में यह किस तरह व्यावहारिक है।

कार्यसिद्धान्त (Functionalism) वह सामाजिक दृष्टिकोण है, जो समाज को एक व्यवस्था के रूप में देखता है, जिसका निर्माण अंतर्संबंधित एवं अंतर्संयोजित (Interrelated and Interconnected) भागों से हुआ है। उदाहरण के लिये परिवार, अर्थव्यवस्था और उपचार साथ में काम करते हुये समाज में स्थायित्व और सामंजस्य का भाव उत्पन्न करते हैं। यह माना जाता है कि समाज के हर हिस्से के समग्र समाज पर सकारात्मक परिणाम होते हैं, जिसे उनके कार्य या क्रियात्मकता (Function) कहा जाता है, कुछ परिणाम नकारात्मक भी हो सकते हैं, जिन्हें कार्यबाधा (Dysfunction) कहा जाता है। जब हर हिस्सा स्थायी और सामंजस्पूर्ण तरीके से काम करता है तो पूरे समाज का कामकाज बेहतर चलता है। यानी यहां समाज के सभी हिस्सों के बीच प्रभावी एकीकरण आवश्यक है। कार्यसिद्धान्त दृष्टिकोण में व्यक्ति के बजाय पूरे समाज पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है और समाज को सामाजिक व्यवस्था के तौर पर देखा जाता है। यह तर्क

देता है कि सामाजिक व्यवस्था की कुछ अनिवार्य जरूरतें होती हैं, जिन्हें कार्यसंबंधी शर्तें (Functionalism Prerequisites) कहा जाता है। सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखने और अस्तित्वमान रखने के लिये ये आवश्यकताएं महत्वपूर्ण हैं। कार्यसिद्धान्त समाज के विभिन्न भागों के बीच संबंध को उभारता है। इसका अर्थ यह है कि समाज के हरेक हिस्से (चाहे व्यक्ति हो या समूह) को विशिष्ट भूमिका का निर्वहन करना होता है। सभी हिस्सों के बीच अंतर्संबंध होते हैं, जिनका निर्धारण समाज के सदस्यों के मूल्यों और मानकों के आधार पर आम सहमति से किया जाता है। सहमति के अलावा विभिन्न सामाजिक सदस्यों के विचारों में अंतर के कारण कई बार अंतर्विरोध भी सामने आ सकता है, जो बाधा का कारण बन सकता है।

कार्यसिद्धान्त दृष्टिकोण के अनुसार इस तरह की सामाजिक बाधाएं विभिन्न मनोवैज्ञानिक और शारीरिक स्वास्थ्य समस्याओं का कारण बनती हैं और यह समाज के सामान्य कार्यों को भी रोक सकती हैं। दुर्खेम ने समाज और स्वास्थ्य के संबंधों का गहराई से अध्ययन किया है। वह तर्क देते हैं कि जब भी समाज में मूल्य और मानक कमजोर पड़ते हैं, यह मूल्यों, विश्वास और सामान्य मानकों के पुनर्निर्धारण के प्रयास करता है, इस प्रक्रिया में व्यक्ति (Individual) की इच्छाओं को पूरा करने में यह नाकाम रहता है और इसके कारण मानकविहीन प्रतिमानहीन असंबद्धता (Anomie) जन्म लेती है (Turner & Noh, 1983). अपनी पुस्तक 'सुसाइड' में दुर्खेम बताते हैं कि सामाजिक तथ्यों को आत्महत्या की बढ़ती प्रवृत्ति और बदलती परिस्थितियों को स्पष्ट करने में उपयोग किया जा सकता है। वह बताते हैं कि आत्महत्या की अंदरूनी वजह किसी समूह की सामाजिक एकीकरण की स्थिति में ही छिपा होता है। उन्होंने आत्महत्या के विभिन्न तरीकों में अंतर को स्पष्ट किया है और उनके शोध में प्रतिमानहीनता, असंबद्धता के चलते की जाने वाली आत्महत्याएं विशेष रूप से उभरती हैं। दुर्खेम बताते हैं कि इस तरह की आत्महत्याएं बड़े पैमाने पर सामाजिक संकट बन गयी हैं और इनकी घटना तब बढ़ गयी है, जबकि औद्योगिक स्वरूपों में ढलने की दिशा में बढ़ रहे समाज में तेजी से परिवर्तन व उतार–चढ़ाव आ रहे हैं। वह तर्क देते हैं कि आत्महत्या दरअसल समाज की एकीकरण की क्षमता के ह्रास का परिणाम हैं। दुर्खेम के सिद्धान्त न सिर्फ आत्महत्या के तरीकों को स्पष्ट करती है, बल्कि हिंसा और हत्या की घटनाओं तथा दीर्घकालीन रोगों के भी कारणों और प्रभावों को उभारते हैं। दुर्खेम सामाजिक एकीकरण एवं स्वास्थ्य के बीच संबंध को स्पष्ट करते हुये समाज की क्रियाशीलता को व्यवस्थित बनाये रखने पर जोर देते हैं। दुर्खेम से प्रभावित टेल्कोट पार्सन, मैक्स वेबर और अन्य समाजविज्ञानियों ने भी मूल्यों की आम सहमति और इसके परिणामस्वरूप स्थायी सामाजिक व्यवस्था को बढ़ावा देने पर जोर दिया है। लेकिन पार्सन ऐसे पहले समाजविज्ञानी थे, जिन्होंने रोग भूमिका यानी Sick Role शब्द का सबसे पहले इस्तेमाल किया। यहां हम स्वास्थ्य और उपचार के संबंध में पार्सन के दृष्टिकोण को विस्तार से समझेंगे।

6.6: स्वास्थ्य और उपचार पर पार्सन का विचार (Parson on Health and Medicine)

कार्यसिद्धान्त के मॉडल में पार्सन ने स्वास्थ्य के पहलू को विस्तार दिया और बताया कि इसकी देखभाल सामाजिक व्यवस्था के सुगम संचालन के लिये आवश्यक एवं महत्वपूर्ण है। पार्सन सामाजिक सामंजस्य बनाये रखने की दिशा में उपचार की भूमिका पर जोर देते हैं। पार्सन बताते हैं कि बीमारी विचलन (Deviance) की स्थिति है। वह तर्क देते हैं कि बीमारी को समाजशास्त्रीय स्वरूप में समझने के लिये इसे विचलन के स्वरूप में देखा जाना ही सर्वाधिक उचित है, क्योंकि अस्वस्थता समाज की सामाजिक क्रियाशीलता में बाधा बनती है। पार्सन के अनुसार, 'बीमारी समस्त मानवीय व्यक्तियों की सामान्य

क्रियास्थिति में बाधा की स्थिति है, जिसमें राज्य का संगठन भी जैविक व्यवस्था के रूप में शामिल हो जाता है। क्योंकि इसके चलते व्यक्ति और सामाजिक व्यवस्थाओं का संतुलन बिगड़ने की आशंका रहती है। इस तरह इसे आंशिक रूप से जैविक और आंशिक रूप से सामाजिक तौर पर परिभाषित किया जा सकता है।' (parson 1951)

6.6.1: क्या बीमारी विशुद्ध जैविक है? (Is Disease Purely Biological)

पार्सन मानते हैं कि रोग की घटना पूर्ण रूप से जैविक नहीं है। रोग की घटना में अस्वस्था के सामाजिक सन्दर्भों को समझना भी अति आवश्यक है। पार्सन तर्क देते हैं कि बीमारी से जुड़े सामाजिक कारकों को समझना आवश्यक है, क्योंकि व्यक्ति के सामाजिक संबंधों की उसके अस्वस्थ होने में बड़ी भूमिका रही है। सामाजिक कारक सांगठनिक, वैधानिक, जैविक और मनोवैज्ञानिक रूप से व्यक्ति के शरीर में उपस्थित रहते हैं, जबकि बीमार करने वाले पर्यावरणीय पहलू बाहरी कारक होते हैं। सुजाता (2014) बताती हैं, 'पार्सन के सिद्धान्त का यह पहलू कि ढांचागत बाधाएं और तनाव लोगों को बीमार होने की दिशा में बढ़ाता है, उनके दौर के अमेरिका में उभर रही मनोवैज्ञानिक एवं मनोदैहिक (Psychological and Psychosomatic) उपचार पद्धतियों के लिये प्रासंगिक था। 1951 से पहले अपने प्रारंभिक कार्यों में उन्होंने तर्क दिया कि बीमारी के सभी स्वरूपों (संक्रमण और चोटों के अंतर समेत) में इस तरह के कारक देखे जा सकते हैं। यहां तक कि कई मामलों में स्वयं ही बीमार हो जाने की अप्रकट इच्छा भी देखी जा सकती है। वह आगे कहते हैं कि स्वास्थ्य समस्याओं की पूरी श्रृंखला को मनोवैज्ञानिक–मनोदैहिक स्वरूप में देखा जा सकता है। बदलती जीवनशैली और बीमार होने की बढ़ती मनोवैज्ञानिक घटनाओं को भी सामाजिक परिस्थितियों से जोड़ा जा सकता है। 1999 के बाद के शोधकार्यों में पार्सन बताते हैं कि उनका यह सैद्धान्तिक ढांचा मनोवैज्ञानिक एवं मनोदैहिक उपचारों को समझाने का काम करता है।' इस तरह पार्सन यह स्पष्ट करते हैं कि स्वास्थ्य आंशिक रूप से जैविक और आंशिक रूप से सामाजिक है। जैविक कार्यबाधा के प्रति मानवीय प्रतिक्रिया सामाजिक कार्यबाध में बदलती है।

6.7: बीमारी की बाधा (Illness as Dysfunctional)

पार्सन के अनुसार अस्वस्था का उच्चस्तर स्वास्थ्य के निम्नस्तर को बढ़ाता है, जो समाज के लिये कार्यबाधा की वजह बनता है और लोगों को अपनी सामाजिक भूमिका का निर्वाह करने से रोकता है। (Parsons, 1951: 430). वह स्पष्ट करते हैं कि अच्छे स्वास्थ्य का निश्चित स्तर बनाये रखने के लिये महत्वपूर्ण कारक है समाज की पूर्ण क्षमतावान क्रियाशीलता। उपचार और औषधियां स्वास्थ्य देखभाल की दिशा में पोषक की भूमिका निभाती हैं। स्वास्थ्य पहलू की ओर पार्सन की रुचि इसलिये अधिक थी, क्योंकि यह सामाजिक भूमिकाओं के निर्वहन की राह में बाधा बन जाती है (उदाहरण के लिये वेतनभोगी रोजगार और अभिभावकीय दायित्व आदि)।

6.8: रोगी भूमिका (Sick Role)

रोगी भूमिका चिकित्सकीय समाजशास्त्र में उपयोग किया जाने वाला शब्द है, जिसका तात्पर्य प्रभावित व्यक्ति के अधिकारों और कर्तव्यों से है। रोगी भूमिका की अवधारणा अमेरिकन समाजविज्ञानी टेल्कॉट पार्सन ने 1951 में दी थी। पार्सन ने तर्क दिया कि किसी व्यक्ति के रोगी होने का अर्थ यह है कि वह रोगी होने के कारण सामान्य कार्य कर पाने में अक्षम है और इसके चलते अपनी अपेक्षित सामाजिक भूमिका का

निर्वहन नहीं कर सकता है। इसके चलते वह व्यक्ति सामाजिक विचलन की भूमिका में आ जाता है। इसका कारण यह है कि कार्यसिद्धान्त दृष्टिकोण के अनुसार बीमार व्यक्ति समाज का उत्पादक सदस्य नहीं है। ऐसे में पार्सन तर्क देते हैं कि व्यक्ति के बीमार होने पर सामाजिक सामंजस्य में आने वाले विचलन को नियंत्रित एवं दूर करने का काम चिकित्सकीय विशेषज्ञों को करना चाहिये। पार्सन स्पष्ट करते हैं कि जो व्यक्ति बीमार हुआ है, उसे सामाजिक तौर पर भी बीमार (यहां तात्पर्य निष्प्रयोज्य) की भूमिका दे दी जाती है। वह कहते हैं कि बीमार होना बीमार व्यक्ति का सविचार (जानबूझकर किया गयाः Deliberated) कर्म नहीं है। यह चोट अथवा संक्रमण के कारण हो सकता है। बीमार व्यक्ति आमतौर पर स्वयं अपनी देखभाल कर पाने में सक्षम नहीं होता है, यही वजह है कि उसे चिकित्सकीय सलाह और चिकित्सकीय विशेषज्ञों के संपर्क में रहने की आवश्यकता होती है। संक्षेप में कहें तो बीमार होना सामान्य परिस्थिति नहीं है, सामाजिक मानकों के रूप में इसके भीतर पारंपरिक अधिकार और अनिवार्य दायित्व भी समाहित होते हैं।

6.8.1: रोगी के अधिकार एवं कर्तव्य (Rights and Obligations of Sick Person)

बीमार व्यक्ति को सामाजिक स्तर पर ही एक भूमिका दे दी जाती है, जिसे हम रोगी भूमिका कह सकते हैं। इसमें उसे आम सामाजिक भूमिका से अलग कर दिया जाता है और सामान्य अपेक्षाओं से उसे छूट देकर स्वस्थ होने के लिये कुछ समय की अनुमति दी जाती है। रोगी भूमिका में व्यक्ति को आराम करने, घरेलू और रोजगार संबंधी दायित्वों से अलग रहने की भी सुविधा मिलती है। दूसरा पहलू यह है कि अपनी इस स्थिति के लिये वह स्वयं जिम्मेदार नहीं होता है। इस तरह यह माना जाता है कि बीमार व्यक्ति की यह स्थिति उसके अपने नियंत्रण में नहीं है। लेकिन इन अधिकारों के साथ बीमार व्यक्ति के साथ कुछ दायित्व भी जुड़ जाते हैं। उसका पहला दायित्व यह है कि वह जल्द स्वस्थ होने का प्रयास करे और इसके लिये चिकित्सकीय विशेषज्ञों से सलाह–सुझाव ले। उससे अपेक्षा की जाती है कि वह चिकित्सकीय मदद मांगे और चिकित्सकीय विशेषज्ञों यानी डॉक्टरों का पूर्ण सहयोग करे, क्योंकि बीमार होना रुचिकर परिस्थिति नहीं है। इसके बदले डॉक्टर पर यह दायित्व बनता है कि वह रोगी को सर्वोत्तम सुझाव, उपचार दे।

बीमार के लिये चिकित्सकीय देखभाल की जरूरतः पार्सन के विचार में रोगी के लिये चिकित्सकीय देखभाल की आवश्यकता होती है, क्योंकि–

- बीमारी होना रुचिकर परिस्थिति नहीं है
- बीमारी और रोग सामान्य सामाजिक क्रियाशीलता में बाधा बनते हैं
- बीमारी मानवीय क्षमताओं का ह्रास करती है, और
- अधिकतर समाजों में रोगपीड़ितों पर ही बीमार हो जाने का दोषारोपण कर दिया जाता है

6.8.2: स्वेच्छावाद एवं बीमारी (Voluntarism and Illness)

पार्सन ने कुछ मामलों में बीमारी को प्रेरित बताया है। वह बताते हैं कि सामाजिक भूमिकाओं से छुटकारा पाने और बीमार व्यक्ति के रूप में देखभाल पाने के लिये यह स्थिति बीमारी को प्रेरित करती है। बीमार व्यक्ति को सामान्य सामाजिक भूमिकाओं को त्यागकर डॉक्टर के पास जाना होता है और यह आकस्मिक भेंट परस्पर दायित्वों तथा विशेषाधिकारों की शृंखला बनाती है। ऐसे में पार्सन स्वेच्छावाद पर जोर देते हैं, जिसका अर्थ यह है कि लोगों को अपनी रुचियों के अनुरूप निर्णय लेने और इनके अनुसार कार्य करने की क्षमता होनी चाहिये। पार्सन के विचार में रोगी भूमिका दरअसल दोहरी प्रवृत्ति है, जिसमें न सिर्फ विचलन

मॉडल के जरिये सकारात्मक परिणाम को पाने को प्रेरित किया जाता है, बल्कि अक्षमता मॉडल भी है जो बीमारी के कारण नकारात्मक उपलब्धियों के पहलू को स्पष्ट करता है। (sujatha 2014;54)

6.8.3: चिकित्सक की भूमिका (Physician's Role)

पार्सन ने स्पष्ट किया है कि डॉक्टर को भी बुनियादी कारक के तौर पर काम करना होता है, क्योंकि वह न सिर्फ रोगी को स्वस्थ कर रहा होता है, बल्कि इसके जरिये पूरे समुदाय की भी मदद करता है। इसके लिये वह रोगी के प्रति अपनी कोई धारणा बनाने के बजाय वैज्ञानिक ज्ञान का इस्तेमाल करता है। पार्सन ने स्पष्ट किया है कि चिकित्सक के लिये व्यक्तिगत एवं आर्थिक लाभ कमाने से कहीं अधिक रोगी का कल्याण महत्वपूर्ण है। (Parsons, 1951: 435). पार्सन ने उपचार और दवाओं को आधुनिक समाज में सामंजस्य बनाये रखने का जरिया माना है। वह तर्क देते हैं कि चिकित्सकीय पेशा एक ऐसा ढांचा है, जहां चिकित्सक पक्षपातरहित होकर काम करते हैं और आर्थिक लाभ कमाने के बजाय अन्य कई पहलू उन्हें ऐसा करने के लिये प्रेरित करते हैं। पार्सन ने एक आदर्श स्थिति को वर्णित किया है, जिसमें डॉक्टरों और मरीजों की परस्पर सांस्थानिक भूमिका रहती है जो सहमति पर आधारित होती है और बीमारी के कारण सामाजिक मूल्यों में विचलन को दूर करने का काम करती है। रोग की स्थिति को लेकर डॉक्टर की आधिकारिक स्वीकृति बीमारी के संबंध में किये जाने वाले अवैध दावों और रोगी भूमिका के रूप में सुविधाओं का लाभ लेने की कोशिशों को रोक सकती है। पार्सन कहते हैं कि रोगी पर दायित्वों का निर्धारण इसलिये आवश्यक होता है कि वह जल्द से जल्द स्वस्थ होने के लिये पूरे प्रयास करे और शीघ्र से शीघ्र अपनी सामान्य सामाजिक भूमिका में लौट आये, ताकि बीमारी के कारण होने वाले सामाजिक नुकसान की भरपाई की जा सके। संक्षेप में कहें तो पार्सन के अनुसार सामाजिक स्थायित्व को बनाये रखने के लिये उपचार के मामलों में कुछ नियमों का पालन किया जाना आवश्यक है।

पार्सन के अनुसारः

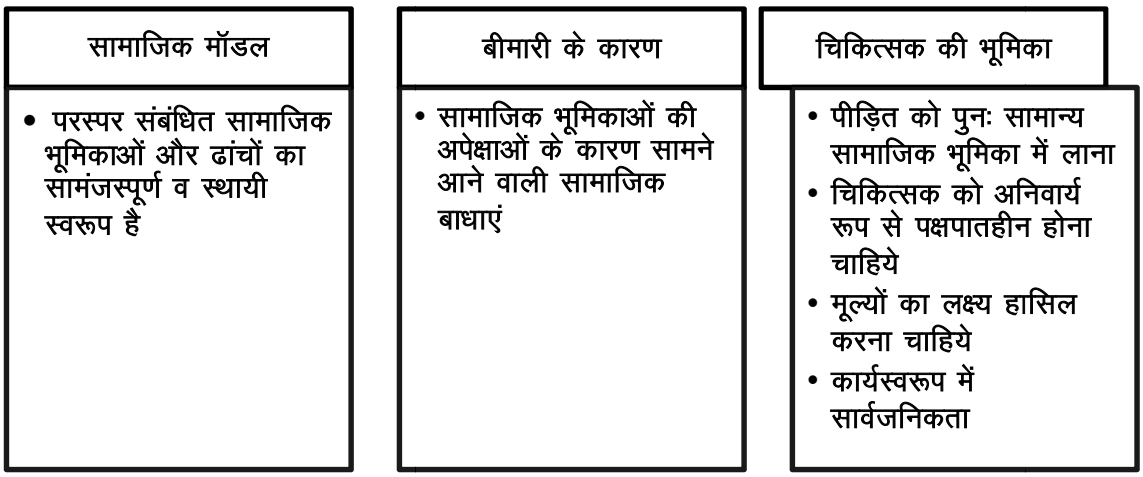

6.9: सामाजिक नियंत्रण और उपचार (Social Control and Medicine)

पार्सन आधुनिक समाज व्यवस्था में सामाजिक नियंत्रण की प्रक्रिया में उपचार के महत्व को इंगित करते हैं। वह बताते हैं कि आधुनिक समाज में उपचार विचलन पर नियंत्रण का अहम संस्थान है। यह सिर्फ वैज्ञानिक तरीके से देखभाल पर आधारित संस्थान नहीं है, बल्कि व्यक्तियों में विचलन की बढ़ती प्रवृत्ति व घटनाओं (यानी सामाजिक दायित्वों व भूमिकाओं से बचने का प्रयास) की पहचान का माध्यम भी है। पार्सन तर्क देते हैं कि आधुनिक जीवनशैली में सामने आने वाली बाधाएं और चुनौतियां लोगों को रोगी भूमिका में जाने अर्थात् अपने सामान्य दायित्वों से बचने की कोशिश के लिये प्रेरित करती हैं, जिसकी पहचान किया जाना आवश्यक है। पार्सन का विश्लेषण बताता है कि इस तरह के प्रेरित विचलन पर नियंत्रण में चिकित्सकों की क्या भूमिका है और यह भी कि बीमारी के पीछे बड़े पैमाने पर सामाजिक बाधाएं भी जिम्मेदार हैं।

चिकित्सकीय सामाजिक नियंत्रण (Medical Social Control)

स्वास्थ्य के नाम पर उपचारात्मक संस्थान उन व्यवहारों के उन्मूलन, बदलाव, नियंत्रण का काम करते हैं, जिन्हें सामाजिक विचलन कहा जाता है। इस हस्तक्षेप का उद्देश्य बीमार लोगों को स्वस्थ बनाकर उनकी पारंपरिक सामाजिक भूमिकाओं में लौटाना है। इसके अलावा यह विशेष परिस्थितियों (जैसे दिव्यांगता) में लोगों को समाज में उनकी नयी भूमिका के निर्वहन के लिये भी प्रेरित करता है, ताकि सामाजिक क्रियाशीलता में किसी भी स्तर पर बाधा उत्पन्न न हो पाये।

6.10: पार्सन की रोगी भूमिका की आलोचना (Critique of Parson's Sick Role)

पार्सन के रोगी भूमिका दृष्टिकोण की आलोचना भी की गयी है, क्योंकि यह गंभीर बीमारियों तक ही सीमित रहता है। दीर्घकालिक बीमारियों पर इसमें ध्यान नहीं दिया गया है। इसके अलावा यह लिंग, सामाजिक वर्गों और परंपराओं के आधार पर वर्गीकृत समाज में स्वास्थ्य एवं बीमारी की धारणा तथा स्वास्थ्य देखभाल सुविधाओं की स्थिति पर भी ध्यान केन्द्रित नहीं करता। साथ ही आधुनिक समाज में स्थायित्व की पार्सन की धारणा भी इसलिये पूरी तरह सत्य नहीं है, क्योंकि पार्सन का तत्कालीन समाज 1950 का था। पार्सन ने चिकित्सकीय पेशे को परोपकारी माना है उदाहरण के लिये उन्होंने जिस तरह चिकित्सक और रोगी के आदर्श संबंधों को केन्द्र में रखा है, वह व्यापारीकरण के दौर में संभव और सत्य नहीं है। बर्कानोविक (1972) तर्क देते हैं कि रोगी भूमिका अपर्याप्त अवधारणात्मक साधन है, क्योंकि पार्सन दीर्घकालिक बीमारियों के बजाय अस्थायी परिस्थितियों पर ही ध्यान केन्द्रित किये हुये थे।

6.11: निष्कर्ष (Conclusion)

पार्सन का समाजशास्त्र सामाजिक सामंजस्य में उपचार की भूमिका पर जोर देता है। वह उपचार की सामाजिक नियंत्रण भूमिका को उभारते हैं और बताते हैं कि आधुनिक समाज में रोगी भूमिका वह सामाजिक भूमिका है, जो सामाजिक बाधाओं के कारण उत्पन्न होती है। वह स्पष्ट करते हैं कि रोगी भूमिका के कुछ अधिकार तो कुछ दायित्व भी होते हैं। रोगी व्यक्ति कुछ समय के लिये अपने सामाजिक कार्यों से विरत रहता है ताकि कुछ समय बाद वह वापस अपनी सामान्य भूमिका में लौट सके। रोगी भूमिका विशेषज्ञ द्वारा वैध करार दिये जाने पर ही अस्तित्वमान हो सकती है। पार्सन तर्क देते हैं कि चिकित्सक की भूमिका मूल्यों का लक्ष्य हासिल करने की है यानी चिकित्सकीय पेशेवर धन कमाने के बजाय अन्य कारकों से प्रेरित होते हैं और उनका लक्ष्य पूरा समाज होना चाहिये। संक्षेप में पार्सन चिकित्सा एवं उपचार को आधुनिक समाज में

विचलन को रोकने का महत्वपूर्ण साधन मानते हैं। इस तरह पार्सन समाज की क्रियाशीलता में रोगी भूमिका एवं उपचार के महत्व को स्पष्ट करते हैं।

6.12: अभ्यास प्रश्न (Model Questions)

- समाजशास्त्र को संक्षेप में समझाते हुये बतायें कि स्वास्थ्य–उपचार से यह किस तरह संबंधित है।
- चिकित्सकीय समाजशास्त्र के अध्ययन के महत्वपूर्ण दृष्टिकोण क्या हैं?
- रोगी भूमिका के दो महत्वपूर्ण लक्षणों को स्पष्ट करें।
- न्यूनकारी एवं सामाजिक उपचार दृष्टिकोणों में अंतर को समझायें।
- दो उदाहरणों के जरिये समझायें कि बीमारी किस तरह सामाजिक कार्यबाधा बन सकती है।

6.13: सन्दर्भ (References)

- Anderson, C.H. (1974), Towards a New Sociology, Homeward, III: Dorsey Press. Cockerham W. C. (1982), Medical Sociology, 2nd Edition
- Berger, Peter L. (1963), Invitation to Sociology: A Humanistic Perspective. New York: Doubleday
- Berkanovic Emil,(1972), " LAY CONCEPTIONS OF SICK ROLE". SOCIAL FORCES; 51:53-63.
- Conrad, P. (ed.) (2001) The Sociology of Health and Illness: Critical Perspectives. New York.
- Link, Bruce G. and Jo C. Phelan. (1995), "Social Conditions as Fundamental Causes of Disease." Journal of Health and Social Behavior 35(Extra Issue):80–94.
- Parson Talcott (1951), The Social System. England: Routledge & Kegan Paul Ltd
- Qadeer Imrana (2010) , New Reproductive Technologies And Health Care In Neo-Liberal India: Essays . Centre For Women's Development Studies, New Delhi.
- Stacey Margaret and Homans (1978), "The Sociology of Health and Illness: Its Present State, Future Prospects and Potential for Health Research".Volume: 12 issue: 2, page(s): 281-307
- Sujatha.V. (2014), 'Sociology of Health and Medicine, new perspectives'. New Delhi: Oxford Univesity Press
- Turner, B. S. (1995) Medical Power and Social Knowledge. London: Sage.
- Turner, B. S. (2004) The New Medical Sociology: Social Forms of Health and Illness. Cambridge: Cambridge University Press.

इकाई -7

मार्क्सवादी स्वास्थ्य दृष्टिकोण (Marxist Health Perspective)

7.1 उद्देश्य

7.2 परिचय

7.3 मार्क्सवाद एवं स्वास्थ्य

7.4 रोग एवं निर्धनता का संबंध

7.5 असमानता, वर्ग एवं स्वास्थ्य

7.6 पूंजीवाद में स्वास्थ्य का वस्तुकरण

7.7 पूंजीवाद में स्वास्थ्य का चिकित्सकीयकरण
7.8 राज्य की बदलती भूमिका
7.9 निष्कर्ष
7.10 अभ्यास
7.11 भावी अध्ययन

7.1: उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के जरिये हम स्वास्थ्य और उपचार के विषय में मार्क्सवादी स्वास्थ्य दृष्टिकोण को विस्तार से समझ सकेंगे।

7.2 परिचय (Introduction)

मार्क्सवादी दृष्टिकोण का मूल बिन्दु यह है कि वस्तुओं का उत्पादन सभी मानवीय गतिविधियों का सबसे बुनियादी कार्य है। मार्क्सवादी दृष्टिकोण के अनुसार जीवन निर्वाहयोग्य अर्थव्यवस्था में भोजन, आवास, वस्त्र जैसी बुनियादी जरूरतों के उत्पादन के अलावा मौजूदा पूंजीवादी सामाजिक व्यवस्था में वस्तुओं के भारी मात्रा में उत्पादन की आवश्यकता में संगठन और उचित साधनों–उपकरणों की जरूरत होती है। इसे उत्पादन के बल **(Forces of Production)** कहा जाता है। मार्क्स के अनुसार उत्पादन किसी भी तरह का हो, उसमें सामाजिक संबंध हमेशा संबद्ध होते हैं। आधुनिक पूंजीवादी समाजों में उत्पादन श्रमिक वर्ग के विकास की वजह बनता है, जिन्हें उनके कार्य की प्रकृति और उत्पादन पर नियंत्रण की स्थिति के आधार पर अलग सामाजिक वर्ग के तौर पर देखा जाता है। मार्क्सवादी विचारक तर्क देते हैं कि उत्पादन के ये संबंध और बल एकसाथ समाज के आर्थिक आधार यानी अवस्थापना को नियंत्रित–संचालित करते हैं। समाज के बाहरी ढांचे (राजनीतिक, न्यायिक, शैक्षिक, स्वास्थ्य आदि) इस आर्थिक बुनियाद पर ही आधारित होते हैं। मार्क्स कहते हैं कि उत्पादन पर नियंत्रण की यह प्रक्रिया दो वर्गों –पूंजीवादी (जिनके पास है) और सर्वहारा या दरिद्र श्रमजीवी वर्ग (जिनके पास नहीं है)– को विकसित करती है और इन दोनों वर्गों के बीच लगातार कम होते संसाधनों को लेकर हमेशा प्रतिद्वंद्विता बनी रहती है। यह स्पष्ट करता है कि संसाधनों तक पहुंच अनुवांशिक रूप से ही असमान है और इस असमान वितरण में भी जो लाभ पायेंगे, वही पदानुक्रम (Heirarchy) में स्वयं को बनाये रखने में कायमाब होंगे।

यह दृष्टिकोण इस बात पर जोर देता है कि उत्पादन की शृंखला में किसी व्यक्ति का संबंध सिर्फ पदानुक्रम में अपनी स्थिति को लेकर नही है, बल्कि इससे उसके स्वास्थ्य और समृद्धि का भाव भी जुड़ा हुआ होता है। इस दृष्टिकोण को स्वास्थ्य समाजविज्ञान **(Medical Sociology)** में भी लागू किया गया है। मार्क्सवादी दृष्टिकोण से देखने पर समाजविज्ञानियों ने बीमारियों के सामाजिक कारणों की पड़ताल की। इस दृष्टिकोण के अनुसार जनसंख्या के स्वास्थ्य संबंधी परिणाम दो स्तरों पर पूंजीवादी अर्थव्यवस्था से प्रभावित होते हैं।

1. **उत्पादन प्रक्रिया के स्तर पर:** इसमें स्वास्थ्य प्रत्यक्ष रूप (औद्योगिक बीमारियां, चोट, तनाव संबंधित रोग आदि) से और अप्रत्यक्ष रूप (वस्तु उत्पादन की प्रक्रिया के विस्तृत कारणों से) से प्रभावित होता है। क्योंकि उत्पादन प्रक्रियाएं पर्यावरणीय प्रदूषण की वजह बनती हैं। इसके अलावा वस्तुओं के

उपभोग की प्रक्रिया भी अपने आप में दीर्घकालिक स्वास्थ्य परिणाम देती हैं, जिनमें प्रसंस्करण किये गये खाद्य पदार्थों का सेवन, रासायनिक मिश्रण, कार हादसे आदि शामिल हैं।

2. **वितरण के स्तर पर:** स्वास्थ्य वितरण के स्तर पर भी प्रभावित होता है। उदाहरण के लिये, आय और धन लोगों के जीवनस्तर के प्रमुख मानक हैं। इन दोनों बिंदुओं के अलावा वे कहां रहते हैं, शैक्षिक अवसरों तक उनकी पहुंच कैसी है, स्वास्थ्य सुविधाओं तक उनकी पहुंच है या नहीं, ये सभी कारक भी स्वास्थ्य के सामाजिक कारक हैं।

फ्रेडरिक एंगेल्स (1820–1895) ने अपने शोधकार्य में बताया कि रोगों के कारण और इनके वितरण के माध्यम(संक्रामक व गैर संक्रामक) प्रत्यक्ष रूप से उत्पादन प्रक्रियाओं से संबद्ध हैं (Engels, 1971 (1945))। एंगेल्स की बुनियादी धारणा में निम्न बिन्दु शामिल थे।

- **उत्पादन के साधन:** भूमि, उपकरण और तकनीक
- **उत्पादन के बल:** श्रमशक्ति, तकनीक का ज्ञान
- **उत्पादन के संबंध:** समग्र रूप से वे सभी सामाजिक संबंध, जो लोगों के अस्तित्व के लिये आवश्यक हैं
- **उत्पादन के तरीके:** उत्पादन बलों का संयोग और संबंध, ऐसे दो माध्यम पूंजीवाद और सामंतवाद हैं

7.3 मार्क्सवाद एवं स्वास्थ्य (Marxism and Health)

मार्क्स ने कभीभी प्रत्यक्ष रूप से स्वास्थ्य एवं उपचार के विषय या स्वास्थ्य विशेषज्ञों के विषय पर कुछ नहीं लिखा। उनके सैद्धांतिक एवं दार्शनिक विचारों को मार्क्सवादी एवं नव मार्क्सवादी विचारकों द्वारा पूंजीवादी व्यवस्था में रहने वाले लोगों के स्वास्थ्य विश्लेषण में उपयोग किया गया। मार्क्सवादी दृष्टिकोण ने एक ओर स्वास्थ्य, बीमारी और पूंजीवाद के बीच संबंधों को स्पष्ट करने में मदद की, वहीं पूंजीवाद और चिकित्सकीय प्रक्रियाओं के अंतर्संबंध को भी समझाया। 1844 में उन्होंने मेनचेस्टर की एक मिल में प्रबंधक के तौर पर कार्यरत धनी उद्यमी एंगेल्स के साथ सहकार्य प्रारंभ किया। एंजेल्स श्रमिकों की निर्धनता को लेकर चिंतित थे। उन्होंने ब्रिटिश कामगार वर्ग की निर्धनता, समस्याओं और खराब स्वास्थ्य के विषय पर समग्र ग्रंथ लिख डाला था । अपने लेखन में एंगेल्स ने बताया कि खराब स्वास्थ्य, निर्धनता और रोग परस्पर संबंधित हैं। उन्होंने बताया कि रोग के होने के पीछे मात्र कोई एक कारण नहीं होता। प्राकृतिक वजहों के अलावा कचरा संग्रहण की कमी, नालियों–सफाई का अभाव और आवासों की खराब–लचर व्यवस्था श्रमिक वर्ग में रोगों के पनपने और उनके खराब स्वास्थ्य का कारण हैं। वह इस बात पर भी जोर देते हैं कि निर्धन लोगों के लिये चिकित्सकीय सुविधाओं की भी कमी है और ये सभी कारण मिलकर श्रमिक वर्ग के खराब स्वास्थ्य का कारण बनते हैं। (Engels [1845]).

7.4 रोग और निर्धनता का संबंध (Connection Between Disease and Poverty)

18वीं सदी के अभिजात्य वर्ग में यह आम धारणा थी कि निर्धनता ही बीमारियों और रोगों का कारण है तथा गरीबी निर्धन लोगों की अक्षमता एवं कमजोरियों का ही परिणाम है। मार्क्स और एंगेल्स ने तर्क दिया कि रोग और खराब स्वास्थ्य जरूरत से अधिक श्रम और निर्धन वर्ग के पास भोजन के पर्याप्त साधनों के अभाव

का परिणाम है (Marx and engels 1976). मार्क्स और एंगेल्स ने बताया कि निर्धनता और बीमारियों का संबंध सामाजिक है, व्यक्तिगत नहीं। और अन्य समूहों के मुकाबले निर्धन वर्ग का रोगों से अधिक पीड़ित होने का कारण यह है कि पूंजीवादी ही उन्हें इस स्थिति तक पहुंचाते हैं। पूंजीवादी निर्धन वर्ग के श्रम का शोषण करते हैं और बदले में उन्हें बेहद कम पारिश्रमिक दिया जाता है, जो उनकी निर्धनता का कारण बनता है (engels [1845] 1969). वे दोनों बताते हैं कि निर्धनता एवं रोग औद्योगिक पूंजीवाद के निरंतर विस्तार का परिणाम हैं, जो 19वीं सदी के उत्तरी यूरोपीयन नगरों में कामगारों के शोषण और असमानता को बढ़ावा देने की सबसे बड़ी वजह था। अपने शोधकार्यों में एंगेल्स ने पाया कि ब्रिटिश औद्योगिक केन्द्र के तौर पर विकसित हुये नगरों में एकाएक जनसंख्या विस्फोट सा हुआ, दूसरी ओर पूंजीवाद ने अपने लाभ के लिये श्रमिकों के स्वास्थ्य को गहरा नुकसान पहुंचाया।

मार्क्सवादी दर्शन के तीन मूल बिन्दु

- **भौतिक परिस्थितियां:** मानवमात्र होने के नाते हमारे अनुभवों को जानने के लिये हमें सबसे पहले दैनिक जीवन की भौतिक परिस्थितियों की ओर ध्यान केन्द्रित करना होगा
- **द्वंद्वात्मक भौतिकवाद:** दैनिक जीवन की भौतिक परिस्थितियां सामाजिक बलों के अंतर्द्वंद्वों और अंतर्विरोधों से प्रभावित होती हैं, जिसका परिणाम ही हमारे अनुभव को निर्धारित करता है
- **अलगाव:** जीवन की वर्तमान भौतिक परिस्थितियों से स्पष्ट होता है कि हम मानवीय स्वरूप में स्वयं अपने से, एक–दूसरे से और कार्य की प्रकृति से अलग हो चुके हैं

मार्क्सवादी दृष्टिकोण के अनुसार मानव स्वास्थ्य उपरोक्त तीन मूल विचार बिन्दुओं से जुड़ा हुआ है। पहले बिन्दु के अनुसार जीवन की भौतिक परिस्थितियों का सीधा असर स्वास्थ्य पर होता है। दूसरे बिन्दु में बताया गया है कि जो भौतिक परिस्थितियां स्वास्थ्य पर असर डालती हैं, वे प्रतिद्वंद्वी और शक्तिशाली समूहों द्वारा बनायी जाती हैं जो (तीसरा बिन्दु) अलगाव, पृथक्कीकरण के अनुभव और व्यवहार को जन्म देती हैं। ये तीनों विचार संयुक्त रूप से लोगों को अस्वास्थ्यकर जीवनशैली के चयन के लिये मजबूर करती हैं। और सामूहिक रूप से ये तीनों खराब स्वास्थ्य का कारण हैं।

मार्क्सवादी मॉडल Marxist model

सिद्धांत **Theory**	सामाजिक मॉडल **Model of Society**	रोगों के कारण **Cause of Disease**	चिकित्सा व्यवसाय की भूमिका **Role of the Medical Profession**
मार्क्सवादी Marxist	संघर्षशील एवं शोषणवादी Conflictual and exploitative	लाभ को स्वास्थ्य से अधिक महत्व देना Putting profit ahead of Health	कामगार वर्ग को अनुशासन एवं नियंत्रण में रखना, रोगों के व्यक्तिगत कारण उपलब्ध कराना To discipline and control the working class; and provide individualized explanations of disease

7.5 असमानता, वर्ग और स्वास्थ्य (Inequalities, Class and Health)

वर्ग का तात्पर्य शक्तियों, सामाजिक स्थिति और आर्थिक संसाधनों पर नियंत्रण के आधार पर समाज के जटिल विभाजन से है। सामाजिक वर्ग का निर्धारण आजीविका, आय स्तर, आवासीय और शैक्षिक स्थिति से होता है। ये सभी कारक तय करते हैं कि कोई व्यक्ति किस सामाजिक श्रेणी या वर्ग से संबंध रखता है। खास बात यह है कि लोगों की जीवन प्रत्याशा में भी इस आधार पर स्पष्ट अंतर देखा जाता है कि वे किस श्रेणी से संबंध रखते हैं। उदाहरण के लिये, श्रमिक वर्ग से जुड़े लोगों का निधन जल्दी होना पाया गया है। उनकी आयु कम होती है और मध्यमवर्गीय अथवा गैरश्रमिक वर्ग से संबंधित लोगों के मुकाबले उनमें बीमारियां भी अधिक होती हैं। एंजेल्स ने मेनचेस्टर के श्रमिक वर्ग के खराब स्वास्थ्य पर विस्तार से लिखा है। कई शोधकार्यों ने स्पष्ट किया कि सामाजिक वर्गीकरण स्वास्थ्य पर प्रभाव डालता है। ऐसी ही एक रिपोर्ट **'ब्लैक रिपोर्ट'** है। 1980 में प्रकाशित यह रिपोर्ट स्वास्थ्य के बिन्दु पर समाज के उच्च और निम्न वर्ग के बीच असमानता की खाई निरंतर बढ़ रही है। रिपोर्ट बताती है कि सामाजिक पायदान पर हम जैसे–जैसे नीचे की ओर जाते हैं, खराब स्वास्थ्य वाले लोगों की प्रतिशतता बढ़ती जाती है। 1998 में **एचेसन रिपोर्ट** का प्रकाशन हुआ। इसके अनुसार सामाजिक वर्ग 1 से 5 तक जाते हुये कैंसर, श्वास, हृदय, पक्षाघात जैसी बीमारियों का खतरा बढ़ता जाता है। निम्न वर्ग में आत्महत्याओं और हादसों का खतरा भी अधिक रहता है। यह स्पष्ट करता है कि निर्धन महिलाएं–पुरुष समृद्ध और उच्चवर्गीय लोगों के मुकाबले अधिक संख्या में मरते हैं (Sujatha 2014). इस प्रकार इन दोनों रिपोर्टों ने स्पष्ट किया कि सामाजिक वर्गीकरण व्यक्ति के स्वास्थ्य पर असर डालता है और मृत्युदर भी सामाजिक वर्ग से संबंधित होती है।

जैसाकि हम पहले बता चुके हैं कि एंजेल्स और मार्क्स के लेखन ने चिकित्सकीय समाजशास्त्रियों की कई पीढ़ियों को प्रेरित किया है। उनके सैद्धांतिक और दार्शनिक कार्यढांचे को कई मार्क्सवादी, नव–मार्क्सवादियों ने सामाजिक असमानता और स्वास्थ्य के संबंधों को समझने में उपयोग किया है। मार्क्सवादी विशेषज्ञ मानते हैं कि पूंजीवाद न सिर्फ असमान स्वास्थ्य का कारण है, बल्कि यह स्वास्थ्य–उपचार की नयी व्यवस्था, नयी वस्तुओं और शरीर पर नियंत्रण के नये साधनों के विकास का भी कारण है। यहां हम जानेंगे कि समकालीन चिकित्सकीय समाजशास्त्रियों ने स्वास्थ्य, स्वास्थ्य उपचार व्यवस्थाओं को समझने के लिये किस तरह मार्क्सवादी दृष्टिकोण का उपयोग किया।

मार्क्सवादी समाजशास्त्रियों ने पूंजीवादी स्वास्थ्य–उपचार उद्योग की स्थापना से स्वास्थ्य के उत्पादन पर ध्यान केन्द्रित किया। उन्होंने बताया कि स्वास्थ्य–उपचार व्यवस्था सिर्फ अस्पतालों, क्लीनिकों तक ही सीमित नहीं है, बल्कि इसका विस्तार जांच प्रयोगशालाओं, फार्मास्यूटिकल कंपनियों, चिकित्सकीय उपकरणों के उत्पादन, स्वास्थ्य बीमा कंपनियों आदि तक होता है। पूंजीवादी स्वास्थ्य–उपचार व्यवस्था के कई क्रियाशील भाग हैं जो पूंजीवादी उत्पादन और विनिमय के जरिये एक–दूसरे से संबद्ध रहते हैं। मार्क्सवादी विचारक नवारो ने 1976 में तर्क दिया कि चिकित्सकीय पेशा भी वर्गीकरण के ढांचे से अलग नहीं है और यह मूलतः पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के सहायक के तौर पर ही काम करता है। उन्होंने बताया कि चिकित्सकीय पेशेवर पूंजीवादी व्यवस्था के केन्द्र में रहते हैं जो आबादी की निगरानी, सामाजिक पदानुक्रम को बनाये रखने और सामाजिक नियंत्रण की विभिन्न गतिविधियों के जरिये राष्ट्र–राज्य की मदद करते हैं। मैथ्यूज ने 1992 में पाया कि फार्मास्यूटिकल उद्योगों में नये आविष्कार, संबंधित पेशेवर कॉरपोरेट लाभ के लिये काम करते हैं। वे समाज की पदानुक्रम की व्यवस्था, स्वास्थ्य की असमानता को बनाये रखते हुये स्वास्थ्य व्यवस्था का ऐसा प्रारूप तय करते हैं जो अभिजात्य वर्ग के लिये मददगार होता है।

इन विचारकों–लेखकों का मुख्य और मूल तर्क यह है कि पूंजीवादी चिकित्सकीय व्यवस्था का मुख्य लक्ष्य लाभ कमाना था, अच्छे स्वास्थ्य का निर्माण नहीं। वे बताते हैं कि पूंजीवादी व्यवसाय (चिकित्सकीय पेशा,

अस्पताल, फार्मास्यूटिकल कंपनियां आदि) के स्वामित्व के जरिये लाभ कमाते हैं और प्रबंधक, डॉक्टर, सामाजिक कार्यकर्ता, राजनेता, शिक्षक आदि अपनी विशेषज्ञता के जरिये इन पूंजीवादियों के यहां काम कर अपनी आजीविका हासिल करते हैं।

7.6 पूंजीवाद के अंतर्गत स्वास्थ्य का वस्तुकरण (Commodification of Health under Capitalism)

मार्क्सवादी चिकित्सकीय समाजशास्त्रियों ने पूंजीवादी व्यवस्था के अंतर्गत विकसित दवाओं और उपचार का भी विश्लेषण किया है। इससे बनी आम धारणा यह है कि पूंजीवादी चिकित्सा सिर्फ देखभाल और उपचार पर केन्द्रित है, रोग से संरक्षण पर नहीं और इसी बिन्दु ने उपचार को वस्तुवादी बना दिया है। तकनीक के विस्तार के साथ उपचार का ध्यान भी शरीर के विशेष भागों पर रह जाता है जिससे व्यक्ति की शारीरिक पहचान भी सामाजिक अलगाव की वजह बनती है। कई रोगी अकसर यह शिकायत करते हैं कि उनकी सामाजिक पहचान कैंसर रोगी या हृदयाघात रोगी की बन गयी है और इसके कारण समाज में उन्हें बीमार की तरह देखा जाता है। मार्क्सवादी समाजशास्त्रियों का तर्क है कि स्वास्थ्य स्वयं में एक ऐसी वस्तु बन जाता है जिसे खरीदा या बेचा जा सकता है। विशेषज्ञ पेशेवरों और मरीजों के बीच बाजार की तरह विक्रेता–ग्राहक का संबंध बन जाता है और लाभ कमाने के मकसद से लगातार नयी जरूरतों को खड़ा किया जाता है। पूंजीवादी उपचार व्यवस्था में उपचार के तकनीकी स्वरूप को ही खराब स्वास्थ्य की समस्याओं का समाधान माना जाता है, जिसके चलते यह एक लाभकारी उद्यम के तौर पर विकसित हो गया है। (Sujatha 2014)

7.7 पूंजीवाद के अंतर्गत स्वास्थ्य का चिकित्सकीयकरण (Medicalization of Health under Capitalism)

सुजाता के अनुसार वस्तुकरण कर एक अन्य पहलू चिकित्सकीयकरण है। इसमें सामाजिक समस्याओं को भी स्वास्थ्य समस्याओं के तौर पर देखा जाता है। चिकित्सकीयकरण का अर्थ चिकित्सकीय सिद्धांत, अवधारणाओं और कार्यढांचे के जरिये सामाजिक घटनाओं को देखने से है। मार्क्सवादी स्वास्थ्य असमानताओं वर्ग, वस्तुकरण और चिकित्सकीयकरण की अवधारणाओं से जोड़कर देखते हैं, जो पूंजीवादी समाज में स्वास्थ्य सेवाओं में शोषण को स्पष्ट करते हैं। वे बताते हैं कि चिकित्सकीय पूंजीवाद नयी उत्पन्न की जाने वाली समस्याओं को नियंत्रित करता है और इनके जरिये नये बाजार विकसित कर मानवीय समस्याओं से भी लाभ कमाता है। कोनार्ड (1975) ने विकृत व्यवहार के चिकित्सकीयकरण को समझाने के लिये बाल्यकालीन अतिसक्रियता का उदाहरण दिया। 'चिकित्सकीय सामाजिक नियंत्रण' को स्पष्ट करते हुये उनके विश्लेषण ने स्वास्थ्य के समाजशास्त्र में बड़ा योगदान किया। कोनार्ड के अनुसार चिकित्सकीयकरण दरअसल हमारी दैनिक जीवनचर्या के विभिन्न क्षेत्रों में चिकित्सकीय अधिकरण (Medical Authority) का विस्तार है। इसे सामाजिक नियंत्रण के रूप में इस तरह समझा जा सकता है कि विकृत समझे जाने वाले व्यवहार को सामाजिक स्थिति से हटाकर चिकित्सकीय क्षेत्र में डाल दिया जाता है। यहां इस प्रक्रिया के पीछे कारण यह नहीं है कि चिकित्सकीयकरण को स्वीकृति मिल चुकी है या यह तकनीकी रूप से सुरक्षित और प्रभावी है, बल्कि (मार्क्सवादी विचारकों के अनुसार) यह वस्तुतः पूंजीवाद की वस्तुकरण प्रक्रिया का परिणाम है। हाल के दशकों में वस्तुकरण की यह प्रक्रिया बुनियादी वस्तुओं के उत्पादन से उठकर शरीर के अंगों, यहां तक कि पूरे शरीर तक पहुंच चुकी है।

क्लार्क (2003) कहती हैं, 'चिकित्सकीयकरण की प्रक्रिया कई बार तकनीकी–वैज्ञानिक आविष्कारों के जरिये पूरी की जाती है। इसने इस प्रक्रिया को जैवचिकित्सकीयकरण बना दिया है। इस तरह चिकित्सकीयकरण

का लक्ष्य उच्च तकनीकी–वैज्ञानिक जैवचिकित्सकीय प्रक्रियाओं से हासिल किया जाता है।' इस अवधारणा के साथ क्लार्क ने इस पूरी प्रक्रिया को शरीर पर नियंत्रण **(Control Over Bodies)** से शरीर के रूपांतरण **(Transformation Over Bodies)** तक की प्रक्रिया करार दिया है। वह बताती हैं कि जैवचिकित्सकीयकरण प्रक्रिया (जिसमें शरीर का रूपांतरण भी शामिल है) का एक आयाम नयी व्यक्तिगत और सामूहिक पहचानों का निर्माण भी है।

मार्क्सवादी विचारों ने मानव अंगों के वस्तुकरण पर भी लिखा है। इसका एक उदाहरण है मातृत्व और सरोगेसी (Surrogacy) का व्यापारीकरण, जिसमें कोई महिला अपने गर्भ को 'किराये' पर देती है। मार्क्सवादी नारीवादी विचारक तर्क देते हैं कि सरोगेसी ने लोगों के दो तरह के वर्ग उभारे हैं, पहला अंगों के ग्राहक (वह मां जो किराये पर गर्भ ले रही है) और अंगों के विक्रेता (वह मां जो अपना गर्भ किराये पर दे रही है)। मार्क्सवादी विचारक बताते हैं कि गर्भ के वस्तुकरण की इस प्रक्रिया में निर्धन और हाशिये पर जीने वाली महिलाएं अंग प्रदाता बनती है, जबकि इस सौदे का अधिकतर लाभ धनी महिलाओं को मिलता है। भारत में सरोगेसी लाखों डॉलर का उद्योग बन चुका है। अमीर देशों के लोग तीसरी दुनिया के देशों में आकर निर्धन महिलाओं को सरोगेट मां बनने के लिये तैयार करते हैं। और इस तरह एक शरीर बेचे जाने योग्य उत्पादन के लिये कच्चा माल बनकर रह जाता है। शरीर के वस्तुकरण की इस प्रक्रिया में आवश्यकता से अधिक चिकित्सकीयकरण और इसके स्वास्थ्य दुष्प्रभाव निर्धन महिलाओं को ही झेलने होते हैं जो असमानता को और बढ़ाते हैं, क्योंकि बदले में इन महिलाओं को बेहद कम आर्थिक लाभ मिल पाता है। यहां हम पाते हैं कि शरीर के वस्तुकरण का विश्लेषण नारीवादी सिद्धांतों के जरिये किया जाता है, जबकि न तो मार्क्स और न ही एंजेल्स ने कभी महिलाओं के अनुभवों को लेकर कोई उपयोगी विश्लेषण किया था। महिलाओं के शरीर पर वस्तुकरण के प्रभाव का उदाहरण सेनगुप्ता (2017) के शोधकार्यों में भी मिलता है। उन्होंने तर्क दिया कि विकासशील देशों में वर्तमान दौर में स्वास्थ्य सेवाओं के निजीकरण और व्यवसायीकरण को लगातार बढ़ावा मिल रहा है। इसके साथ ही मेडिकल टूरिज्म नाम की नयी व्यवस्था भी उपजी है। अस्पतालों के निजीकरण और मेडिकल टूरिज्म का ही यह असर है कि भारत में जिन निर्धन महिलाओं को अपनी गर्भावस्था के दौरान निजी अस्पतालों में उचित उपचार नहीं मिल पाता, उन्हें तब इन्हीं निजी अस्पतालों में विशेष देखभाल मिलती है, जब वे सरोगेसी के लिये तैयार होती हैं। स्वास्थ्य नीतियों में नव–उदारवाद से यह अंतर आया है।

मेडिकल टूरिज्म अब सिर्फ मातृत्व तक सीमित नहीं रह गया है, बल्कि कॉस्मेटिक सर्जरी भी इसका एक पहलू है, जहां मरीजों को सुंदरता के मानकों पर फिट करने की कोशिश की जाती है (Sujatha 2014)। सेनगुप्ता बताते हैं कि सर्जरी संबंधी चिकित्सा कई देशों में उद्योग बन गयी है, जिसने मेडिकल टूरिज्म को बढ़ावा दिया है। वह बताते हैं कि ओपनहार्ट सर्जरी पर विचार करें तो ब्रिटेन में इसकी लागत 70 हजार डॉलर तक है, अमेरिका में इसके लिये डेढ़ लाख डॉलर तक खर्चा होता है, जबकि भारत में इसकी लागत तीन हजार डॉलर से 10 हजार डॉलर तक हो सकती है। इसी तरह घुटना प्रत्यारोपण की लागत भारत में साढ़े तीन लाख रुपये यानी 7700 डॉलर है, जबकि ब्रिटेन में इसके लिये 16950 डॉलर देने होंगे। इसी तरह दांतों, आंखों और कॉस्मेटिक सर्जरी के दाम भारत में पश्चिमी देशों के मुकाबले तीन से चार गुना तक कम हैं। मेडिकल टूरिस्ट को अकसर पूरी पैकेज डील मिलती है, जिसमें उपचार के अलावा हवाई टिकट, होटल में रहने और उपचार के बाद कुछ दिन मनोरंजनात्मक गतिविधियां भी शामिल होती हैं। इस तरह हम

देखते हैं कि पूंजीवादी चिकित्सकीयकरण के तहत हमारा शरीर वस्तु बनकर रह जाता है। पूंजीवादी स्वास्थ्य व्यवस्था में वस्तुकरण, चिकित्सकीयकरण और निजीकरण असमानता को बढ़ाता है, क्योंकि धनी लोग मनचाहा इलाज आसानी से पा लेते हैं, जबकि निर्धन लोगों की पहुंच कई बार बुनियादी उपचार तक भी संभव नहीं हो पाती।

7.8 राज्य की बदलती भूमिका (Changing Role of State)

पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में जनसंख्या के स्वास्थ्य की देखभाल में राज्य की भूमिका मार्क्सवादी विचारकों में हमेशा विवाद का विषय रही है। समकालीन मार्क्सवाादी विश्लेषकों ने स्वास्थ्य–उपचार सेवाओं और संस्थाओं (अस्पताल, क्लीनिक, जांच प्रयोगशालाएं आदि) की राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय बाजार में खरीद–बिक्री पर भी ध्यान केन्द्रित किया है। रेल्मैन (1980) ने अमेरिका में किये अपने अध्ययन के बाद बताया कि सेवासंबंधी प्रावधानों में राज्य ने पारंपरिक रूप से बहुत छोटी भूमिका अपने लिये रखी है। वह बताते हैं कि जटिल चिकित्सा उद्योग के रूप में कॉरपोरेट शक्तियों का विकास इसका प्रमाण है। रेल्मैन बताते हैं कि यह तथ्य सही है कि ये चिकित्सा उद्योग अपने प्रतिद्वंद्वियों के मुकाबले अधिक दक्ष हो सकते हैं, लेकिन यह आवश्यकता से अधिक चिकित्सा, तकनीकी इस्तेमाल पर जोर देते हैं और सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि ये विभिन्न वर्गों में असमानता का भाव बढ़ाते हैं, क्योंकि इन उद्योगों की स्थापना ही उन लोगों के लिये हुयी है, जो इनमें मिलने वाली सुविधाओं और उपचार का खर्चा दे सकें। इससे राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति पर भी अनुचित दबाव बढ़ता है। रेल्मैन तर्क देते हैं कि निजी सेवाओं का विकास, उनकी लाभ कमाने की मंशा, और उपचार का कॉरपोरेट तरीका सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं के लिये चुनौती है।

सेनगुप्ता (2008) ने अपने अध्ययन में पाया कि 1991 के बाद सरकार की नवउदारवादी नीतियों के चलते स्वास्थ्य सेवाओं के क्षेत्र में निजी सेक्टर का उभार बढ़ता गया। 1991 में भारत में सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं पर होने वाला खर्च बीते दशक में सकल घरेलू उत्पाद के 1.3 प्रतिशत से घटकर 0.9 प्रतिशत रह गया। जबकि इसी अवधि में स्वास्थ्य पर किये जाने वाले निजी खर्च के मामले में भारत दुनिया के शीर्ष 20 देशों में शामिल हो गया, जो सकल घरेलू उत्पाद का 4.5 से पांच प्रतिशत तक पहुंच गया था। लेकिन ये निजी सुविधाएं सिर्फ उन्हीं अभिजात्यों को उपलब्ध थीं, जो इन्हें प्राप्त करने में सक्षम थे। भारत में निजी स्वास्थ्य सेक्टर का खर्चा उठाने में ही सक्षम लोगों को उपचार दे पाने का पहलू महत्वपूर्ण बहस का विषय रहा है, क्योंकि यह सेक्टर बेहद खर्चीला है और उच्चवर्गीय लोग ही इसका लाभ ले पाते हैं। दूसरी ओर, निर्धन वर्ग के लोगों के लिये सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवा की गुणवत्ता, सेवाएं और सुविधाएं कमतर रहती हैं। इसके चलते जब निर्धन लोगों के पास महंगी निजी स्वास्थ्य सेवाओं के पास जाने के अलावा कोई चारा नहीं बचता तो वे और अधिक दरिद्रीकरण का शिकार बनते हैं। 40 फीसदी से अधिक रोगियों को इलाज के लिये या तो उधार लेना पड़ता है या फिर अपनी संपत्ति बेचनी होती है। इसी तरह 25 प्रतिशत से अधिक किसान परिवारों को परिवार के किसी मरीज की देखभाल, उपचार के लिये गरीबी रेखा से नीचे का जीवनयापन करना पड़ता है। सेनगुप्ता ने तर्क दिया कि स्वास्थ्य सेवाओं में सार्वजनिक निवेश को तीन से पांच गुना तक बढ़ाने की आवश्यकता है, क्योंकि निजी सेक्टर के अस्पतालों में निर्धन वर्ग के लिये कुछ बेडों की व्यवस्था मात्र कर देना ही भारत की सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं की समस्या का हल नहीं है। वह बताते हैं कि राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति में सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवा को मजबूत करने के बजाय कॉरपोरेट अस्पतालों, मेडिकल टूरिज्म को छूट देकर इन्हें बढ़ावा दिया गया है। वह तर्क देते हैं कि मेडिकल टूरिज्म

से मिलने वाला राजस्व भारत में स्वास्थ्य सेवाओं को तभी बेहतर कर सकता है, जब मेडिकल टूरिज्म को कर छूट देने के बजाय इससे प्राप्त होने वाले कर की राशि का इस्तेमाल सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं में किया जाये। उन्होंने क्यूबा का उदाहरण देते हुये बताया कि क्यूबा दशकों से मेडिकल टूरिज्म में अग्रणी देश रहा है। वहां स्थानीय नागरिकों और विदेशियों व राजनयिकों के लिये अलग अस्पताल हैं। दोनों तरह के अस्पतालों का संचालन सरकार द्वारा ही किया जाता है। क्यूबा के नागरिकों को जीवनभर निःशुल्क स्वास्थ्य सुविधा दी जाती है, जबकि विदेशियों को शुल्क देना होता है। क्यूबा की सरकार ने मेडिकल टूरिज्म को इस तरह विकसित किया है कि वह आय का साधन बनकर देश के नागरिकों के लाभ में काम आता है। क्यूबा का यह उदाहरण बताता है कि मेडिकल टूरिज्म को वस्तुतः लोगों के लाभ में इस्तेमाल किया जा सकता है।

यहां स्पष्ट है कि उपरोक्त शोधकर्ता और लेखक विकास या आविष्कार के विरोधी नहीं हैं, लेकिन वे सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवा में सुधारों के पक्षधर हैं, जो बड़ी आबादी के लाभ और विभिन्न वर्गों में असमानता को खत्म करने में मददगार हो सकते हैं। ये स्वास्थ्य सुधार जनसंख्या के बेहतर स्वास्थ्य के लिये महत्वपूर्ण हैं और इन्हें राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति में शामिल किया जाना चाहिये, लेकिन कई बार सुधार की इन प्रक्रियाओं का पूंजीवाद विरोध करता है। हैमलिन (1998) बताते हैं कि मार्क्स और एंगेल्स 19वीं सदी के मध्यकाल की परिस्थितियों पर लिख रहे थे और तब से अब तक सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं और निजी स्वास्थ्य मानकों के विस्तार से जनता को खासा लाभ मिला है। ऐसा हर लाभ लंबे और सघन राजनीतिक संघर्ष का परिणाम रहा। उदाहरण के लिये विक्टोरियाकालीन ब्रिटेन में साफ–सफाई की नयी व्यवस्थाएं और मानक चिकित्सकीय समूहों, स्थानीय और राष्ट्रीय शासन व आर्थिक अभिजात्य वर्ग के विरोध के बावजूद लागू किये गये।

मार्क्सवादी सिद्धांतकारों ने तर्क दिया कि लाभोन्मुखी स्वास्थ्य व्यवस्था की सबसे बड़ी समस्या यह है कि यह बहुत अधिक महंगे और आवश्यकता से अधिक चिकित्सकीयकरण करते हैं। इसका लाभ सिर्फ उन्हीं लोगों को मिलता है, जो खर्चा उठा पाने में सक्षम हैं, जिसके चलते बड़ी आबादी इसकी सुविधाओं से वंचित रहती है। दूसरी ओर, सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं को मजबूत करने को लेकर सरकार ठोस कदम उठाती नजर नहीं आती। मार्क्सवादी विशेषज्ञ कहते हैं कि तमाम समस्याओं के बावजूद कॉरपोरेट उपचार व्यवस्था वर्तमान में विकासशील और विकसित दोनों देशों में स्वास्थ्य सेवाओं को बेहतर बनाये रखने का जरिया हैं। कई जगह खुद सरकारों ने ही स्वास्थ्य सेवाओं के क्षेत्र में कॉरपोरेट को निवेश के लिये बढ़ावा दिया है। भारत के मामले में देखें तो यहां निःसंतानता का उपचार सार्वजनिक स्वास्थ्य क्षेत्र में उपलब्ध नहीं है, क्योंकि इसके लिये उच्च, जटिल तकनीकों की आवश्यकता होती है, जो सिर्फ निजी सेक्टर में ही उपलब्ध होती हैं। इसके अलावा कॉरपोरेट को बढ़ावा देने का एक मकसद मौजूदा सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवा या लागत क्षमता में सुधार में राज्य के दायित्व को कम करना भी है (nguyen and peschard 2003; Sengupta 2017;2008)। मार्क्सवादी तर्क देते हैं कि सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं को मजबूत करने और राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति में नये प्रावधानों को शामिल करने की जरूरत है, ताकि स्वास्थ्य सेवा तक सभी लोगों, सभी वर्गों की पहुंच हो।

7.9 निष्कर्ष (Conclusion)

इस इकाई में हमने स्वास्थ्य और उपचार को लेकर मार्क्सवादी दृष्टिकोण के अध्ययन से प्रारंभ किया। हमने 19वीं सदी में ब्रिटिश कामगार वर्ग के स्वास्थ्य, निर्धनता के संबंध में एंगेल्स के अध्ययन के बारे में जाना। उन्होंने व्यक्तिवादी, न्यूनकारीवादी सिद्धांतों को चुनौती दी और बताया कि रोगों के पनपने का कोई एक कारण नहीं है। मार्क्स और एंगेल्स ने बताया कि किस तरह पूंजीवाद खराब स्वास्थ्य का कारण है। उन्होंने पूंजीवाद और सर्वहारा वर्ग की जीवन परिस्थितियों में संबंध स्थापित किया। यद्यपि 19वीं सदी से अब तक स्वास्थ्य, स्वास्थ्य सेवाओं और व्यवस्थाओं में खासा बदलाव आया है, लेकिन मार्क्स और एंगेल्स के सिद्धांत आज भी प्रासंगिक हैं। हमने यह भी देखा कि समकालीन समाजशास्त्रियों ने पूंजीवादी व्यवस्था में स्वास्थ्य एवं स्वास्थ्य सेवाओं की प्रकृति और स्वास्थ्य सेवाओं पर कॉरपोरेट के प्रभाव का अध्ययन करने के लिये मार्क्सवादी दृष्टिकोण का उपयोग किया। हालांकि, पूंजीवाद ने कई अर्थव्यवस्थाओं को समृद्ध बनाने में मदद की है और 20वीं सदी में समृद्ध राज्यों को सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं की स्थापना में भी सक्षम बनाया, जनस्वास्थ्य के क्षेत्र में अंतर्राष्ट्रीय निवेश को भी बढ़ावा दिया, जैसे– ब्रिटेन में सफाई अभियान। लेकिन 1980 के बाद पूंजीवाद की नवउदारवादी नीतियों ने निजी स्वास्थ्य सेवाओं का समर्थन किया, जो पूंजीवादी संचय को बढ़ाने और वैश्विक व्यापार का कारण बनने के साथ वर्ग व्यवस्था में असमानता की भी वजह बने।

हमने यह भी जाना कि वर्गों के आधार पर लोगों की स्वास्थ्य आवश्यकताओं में किस तरह अंतर आता है। उदाहरण के लिये, कुछ लोगों के लिये स्वास्थ्य का अर्थ दैनिक जीवन का सहारा और संक्रामक रोगों से बचाव है (SenGupta 2017) लेकिन समृद्ध वर्गों के लिये स्वास्थ्य सिर्फ संक्रामक रोगों से बचाव तक सीमित नहीं है, बल्कि उनके लिये यह जीवनचक्र को बढ़ाने का जरिया है, जिसके लिये वे मानव शरीर को खरीदने की संभावनाओं तक विचार करते हैं। हमने यह भी देखा कि मार्क्स और एंगेल्स के दृष्टिकोण का कई शोधकर्ताओं ने उपयोग किया, जिनमें मार्क्सवादी नारीवादी भी शामिल थे। यहां यह पहलू महत्वपूर्ण है कि अतीत में और नवउदारवादी नीतियों के बाद के काल की स्वास्थ्य सेवाओं में खासा अंतर है, जो वर्गों में असमानता के तौर पर साफ नजर आता है। यदि इस असमानता की स्थिति को कम किया जा सके और राज्य शासन द्वारा सबको बेहतर, समान स्वास्थ्य सेवाएं मुहैया करायी जा सकें तो भविष्य के बेहतर होने की उम्मीद की जा सकती है।

7.10 अभ्यास (Exercise)

- मेडिकल टूरिज्म से आप क्या समझते हैं? दो उदाहरण देकर बतायें।
- नव स्वच्छता अभियान क्या है? इसकी शुरुआत कहां हुयी?
- मार्क्सवादी दृष्टिकोण के आधार पर स्वास्थ्य संबंधी असमानताओं की व्याख्या करें।
- चिकित्सा उद्योग समूह की अवधारणा किसने दी? इसके बारे में समझाएं।
- उत्पादन का अर्थ और साधन क्या हैं?
- चिकित्सकीयकरण की प्रक्रिया से आप क्या समझते हैं?

7.11 भावी अध्ययन (FurtherReadings)

- Chossudovsky, M. (1983) 'Underdevelopment and the Political Economy of Malnutrition and Ill Health' International Journal of Health Services 13(1):69-87.

- Conard peter(1992), Medicalization and Social Control, Annual Review of Sociology 1992: 18:209-32·
- Engels, F. [1845] (1969) The Condition of the Working Class in England (introduction by Eric Hobsbawm) Panther Books: St Albans.
- Lindorff, D. (1992) Marketplace Medicine Bantam Books: New York City
- Marx K (1843) A Contribution to the Critique of Hegel's Philosophy of Right. Introduction. Early Writings.
- Marx K. (1859) A contribution to the critique of political economy (Preface).
- Marx K. and Engels, F. (1846) The German Ideology Critique of Modern German Philosophy According to Its Representatives Feuerbach, B. Bauer and Stirner, and of German Socialism According to Its Various Prophets.
- Marx, K. (1976) Capital Vol.1 Penguin: Harmondsworth
- Navarro, V. (1986) Crisis, Health, and Medicine Tavistock: New York and London.
- Nguyen, V-K. and Peschard, K. (2003) 'Anthropology, Inequality and Disease: A Review' Annual Review of Anthropology 32:447-74.
- Relman, A. (1980) 'The New Medical-Industrial Complex' New England Journal of Medicine 303:963-70.
- Sen Gupta Amit (2008), Medical tourism in India: winners and losers Indian Journal of Medical Ethics Vol V No 1 January- March 2008
- Sen Gupta Amit (2017), Medical tourism and Public Health, Delhi Science Forum, dated 4/25/2017.http://www.delhiscienceforum.net/publichealth/164
- Sujatha.V. 2014. 'Sociology of Health and Medicine, new perspectives'. New Delhi: Oxford Univesity Press.

इकाई -8

स्त्री अधिकारवादी या नारीवादी दृष्टिकोण (The Feminist Approach)

8.1 उद्देश्य
8.2 परिचय
8.3 स्त्री अधिकारवाद का लक्ष्य–कार्य
8.4 स्त्री अधिकारवाद एवं स्वास्थ्य
8.5 प्रजनन का चिकित्सकीयकरण
8.6 जन्म नियंत्रण एवं गर्भपात संबंधी प्रावधान पर तर्क–वितर्क
8.7 शशु जन्म का संस्थानीकरण
8.8 स्त्री अधिकारवाद के मुख्य मुद्दे
8.9 भारत में संस्थानीकरण
8.10 चिकित्सा विज्ञान की प्रकृतिः पूंजीवादी या पुरुषवादी
8.11 सारांश
8.12 अभ्यास प्रश्न
8.13 सहायक अध्ययन

8.1: उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के जरिये हम स्त्री अधिकारवाद एवं स्वास्थ्य को विस्तार से समझ सकेंगे।

8.2 परिचय (Introduction)

स्त्री अधिकारवाद अथवा नारीवाद एवं स्वास्थ्य को समझने के लिये स्त्री अधिकारवाद को समझना और इसके विकास को जानना आवश्यक है। संक्षेप में देखें तो स्त्री अधिकारवाद अथवा नारीवाद वह सिद्धान्त है, जिसमें पुरुषों–महिलाओं को राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक रूप से समान अधिकार पर जोर दिया जाता है। 19वीं सदी में इन सिद्धान्तों का विकास हुआ, जब महिलाओं के अधिकार और लैंगिक समानता के मुद्दों पर लोगों ने विचार प्रारंभ किया। 20वीं सदी में राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक दृष्टिकोण के आधार पर नारीवादी दर्शन को पुनः आकार दिया गया, जिसका लक्ष्य पुरुषवादी एकाधिकार और प्रभुत्व को चुनौती देना था। स्त्री अधिकारवादी सिद्धान्त लैंगिक असमानताओं के विभिन्न कारणों को स्पष्ट करन और इन्हें समझने का प्रयास करता है। 1960 में स्त्री अधिकारवादियों ने अमेरिका में लैंगिक भेदभाव (विशेषकर नौकरियों, रोजगार में) के विरुद्ध संघर्ष में कानूनी लड़ाई का सहारा लिया। अमेरिका में शुरुआत के बाद इसका विस्तार ब्रिटेन में हुआ और यहां से यह विचार अन्य देशों तक पहुंचा। वर्ष 1975 में संयुक्त राष्ट्र ने मेक्सिको सिटी में पहले महिला सम्मेलन का आयोजन किया। स्त्री अधिकारवाद का विकास तीन चरणों में माना जाता है, जो निम्नवत हैं:

- पहला चरण 19वीं सदी में प्रारंभ हुआ और 20वीं सदी की शुरुआत तक चला, जिसमें महिलाओं को मताधिकार दिलाने के लिये कानूनी संघर्ष किया गया
- दूसरा चरण 1960 से लेकर 1980 तक चला, इस चरण में सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, शैक्षिक आदि क्षेत्रों में महिलाओं को समानता का अधिकार दिलाने पर ध्यान केन्द्रित किया गया
- 1990 में तीसरा चरण प्रारंभ हुआ और इसमें उन बिन्दुओं पर ध्यान केन्द्रित किया गया, जिनका लक्ष्य दूसरे चरण में पूरा नहीं हो सका था

स्त्री अधिकारवाद के प्रकारः स्त्री अधिकारवाद के विभिन्न प्रकार हैं। इनमें उदारवादी दृष्टिकोण (Liberal Feminism), उग्र या आमूल परिवर्तनवादी दृष्टिकोण (Radical Feminism), मार्क्सवादी दृष्टिकोण (Marxist Feminism), समाजवादी विचार (Socialist Feminism) और उत्तर संरचनावाद स्त्री अधिकारवाद (Post-Structuralism Feminism) शामिल हैं।

8.3 स्त्री अधिकारवाद के कार्य एवं लक्ष्य (Tasks of Feminism)

स्त्री अधिकारवाद का वृहद एवं प्रमुख लक्ष्य तथा कार्य उन सामाजिक प्रक्रियाओं पर सवाल खड़े करना है, जो महिलाओं को दोयम बनाने का प्रयास करती हैं और महिलाओं के साथ भेदभाव को बढ़ावा देती हैं। स्त्री अधिकारवादियों का बुनियादी तर्क यह है कि पितृसत्तात्मक व्यवस्था पुरुषों को ही आगे बढ़ाने पर जोर देती है, जबकि महिलाओं को अभाव, बीमारी की स्थिति में छोड़ दिया जाता है। महिलाओं को नियंत्रण और सांस्थानिक अधिकार भी उपलब्ध नहीं होते हैं। लैंगिक भेद महिलाओं और पुरुषों के बीच सामाजिक, सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक अंतर का कारण बनता है। किसी क्षेत्र या संस्कृति में महिलाओं और पुरुषों की भूमिकाओं और दायित्वों का अंतर सामाजिक संरचना और व्यवस्था के जरिये निर्धारित कर दिया जाता है। लैंगिक भूमिकाएं और अपेक्षाएं पीढ़ी दर पीढ़ी इसी तरह आगे बढ़ती हैं। दीर्घकालिक प्रक्रिया में इनमें कुछ अंतर आ सकता है, लेकिन अलग–अलग संस्कृतियों में यह अलग हो सकता है।

8.4 स्त्री अधिकारवाद एवं स्वास्थ्य (Feminism and Health)

स्त्री अधिकारवादी दृष्टिकोण यह स्पष्ट करने का प्रयास करता है कि महिलाओं के स्वास्थ्य से जुड़े मसले भी सामाजिक ढांचे से तय होते हैं, न कि महिलाओं की शारीरिक और जैविक आवश्यकताओं से। हालांकि, स्वास्थ्य पर पितृसत्तात्मक व्यवस्था के प्रभाव को विभिन्न स्त्री अधिकारवादी दृष्टिकोण अलग–अलग विचार रखते हैं। उदाहरणतः उग्र (आमूल परिवर्तनवादी) दृष्टिकोण महिलाओं की प्रजनन भूमिका पर पुरुषों के नियंत्रण को पितृसत्तात्मक व्यवस्था का उत्पीड़नात्मक कदम करार देता है। दूसरे चरण के स्त्री अधिकारवादी लेखन में स्पष्ट किया गया है कि महिलाओं के सामाजिक अनुभव (स्वास्थ्य संबंधी मसले भी शामिल) पितृसत्तात्मक संस्थानों द्वारा ही संचालित और नियंत्रित होते हैं, जिनका परिणाम अकसर उत्पीड़नात्मक होता है। स्त्री अधिकारवादी तर्क देते हैं कि हम महिलाओं–पुरुषों की पूर्वनिर्धारित भूमिकाओं के जिस सामाजिक ढांचे में व्यवस्थित हैं, वह स्वास्थ्य पर निश्चित रूप से असर डालता है। इसका कारण यह है कि विभिन्न संस्कृतियों में महिलाओं को पुरुषों के मुकाबले महिलाओं को पुरुषों के मुकाबले दोयम माना जाता रहा है। जेजीबॉय (2004) तर्क देते हैं कि लैंगिक पदानुक्रम संबंध और लैंगिक असमानता की रीतियां–नियम महिलाओं के स्वास्थ्य पर असर डालते हैं। इसका प्रभाव महिलाओं की प्रजनन संबंधी रुचियों पर तो होता ही है, यह सुविधाएं और सेवाएं हासिल करने में भी बड़ी बाधा बने नजर आते हैं। कुपोषण, आर्थिक विषमताओं, कम आयु में विवाह, स्वास्थ्य सेवाओं तक पहुंच का अभाव और असमान शैक्षिक अवसरों जैसे पहलू सामाजिक ढांचे में छिपे रहते हैं। निर्णय क्षमता में महिलाओं की शक्तियां बेहद सीमित होती हैं, साथ ही अभिरुचियों, गतिशीलता और संसाधनों तक पहुंच में भी खासी बाधाएं महिलाओं के लिये रहती हैं (ed.Jejeebhoy 2004).

सुजाता (2014) बताती हैं, जिस दौर में मार्क्सवादी दृष्टिकोण वर्ग (Class) की अवधारणा पर ही सोच रहा था, स्त्री अधिकारवादियों ने समाजवादी सिद्धान्तों को लैंगिक भेद की दिशा में मोड़ा। स्त्री अधिकारवादी तीन प्रमुख लैंगिक पहलुओं पर विचार करते हैं, ये निम्नवत हैं:

- स्वास्थ्य सेवाओं और स्वास्थ्य संबंधी जानकारी तक पहुंच (समानता की स्थिति)
- उपचार और इसके प्रभाव (उपचार की उपलब्धता और तकनीकी दक्षता जो लोगों के जीवन को विशेषज्ञता के साथ नियंत्रित करती हो)
- चिकित्सा विज्ञान की प्रकृति का परीक्षण और प्रश्न (यह स्पष्ट करना कि यह पूंजीवादी है अथवा पुरुषवादी)

8.5 प्रजनन का चिकित्सकीयकरण (Medicalization of Reproduction)

कॉनरेड (2007) बताते हैं कि चिकित्सकीयकरण या स्वास्थ्यीकरण वह प्रक्रिया है जिससे सामाजिक समस्याओं को स्वास्थ्य संबंधी समस्याओं के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, चिकित्सकीयकरण शब्द तब सामने आता है, जब किसी समस्या को स्वास्थ्य संबंधी परिप्रेक्ष्य में देखा जाता है। अर्थात् उस समस्या को स्वास्थ्य संबंधी शब्दों से व्यक्त किया जाये और स्वास्थ्य कार्यढांचे से ही उसे बेहतर समझ पाना संभव हो या उसके निदान के लिये स्वास्थ्य संबंधी प्रक्रियाएं आवश्यक हों। चिकित्सकीयकरण की प्रक्रिया में स्वास्थ्य अधिकरण दैनिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में नियंत्रण स्थापित करते हैं। स्त्री अधिकारवादी तर्क देते हैं कि स्वास्थ्यीकरण सामाजिक नियंत्रण का एक तरीका है। उनके अनुसार दवाएं और स्वास्थ्य साधनों के सामाजिक अनुभव स्पष्ट करते हैं कि वे तब शक्तिहीन हो जाते हैं, जब उन्हें लागू करने वाले चेहरे (यानी डॉक्टर और अन्य स्वास्थ्य सेवा प्रदाता) पुरुष होते हैं। सद्गोपाल

(2012) बताते हैं कि महिलाओं की स्वास्थ्य से जुड़े मुद्दे विशेषकर प्रजनन, महिलाओं के नारीत्व के प्रतीक बने दिखते हैं, इसलिये उनके जीवन के विभिन्न पहलुओं में उपचार की जरूरत महसूस होती है। महिलाओं के जीवन के विभिन्न चरण, मासिकधर्म, गर्भावस्था और रजोनिवृत्ति जो कभी दाइयों अथवा महिला रिश्तेदारों तक ही सीमित थीं, लेकिन बदलते समय के साथ इनमें भी चिकित्सा सुविधाओं का प्रवेश हुआ है।

जैसाकि हम पहले जान चुके हैं कि स्त्री अधिकारवाद का विकास तीन चरणों में हुआ। इस हिस्से में हम उन पहलुओं पर चर्चा करेंगे, जिनमें चिकित्सकीयकरण, महिलाओं की शारीरिक स्थितियों और प्रजनन जैसे विषयों पर स्वास्थ्य सेवाओं के नियंत्रण पर विमर्श हुआ है। हम जानेंगे कि प्रारंभ में सिर्फ दाइयों के साथ काम कर रहे समाजविज्ञानियों ने किस तरह अपने लक्ष्य बदले और महिला अधिकारों को लेकर सार्वजनिक बहसों की शुरुआत की। इसके साथ ही गर्भनिरोधक और गर्भपात जैसे अहम विषयों को लेकर भी उन्होंने आवाज उठायी। हम यह भी देखेंगे कि किस तरह उन्होंने वैज्ञानिकता की प्रभावोत्पादकता पर सवाल उठाये और अंत में हम यह जानेंगे कि बच्चे को जन्म देने की प्रक्रिया में दवाओं के कारण चिकित्साजनित प्रभावों पर क्या सवाल उठाये गये। स्त्री अधिकारवादियों ने तर्क दिये हैं कि बाल्यकाल से ही शारीरिक स्वास्थ्यीकरण एवं प्रजनन की शारीरिक स्थिति महिलाओं के शारीरिक उत्पीड़न एवं पारंपरिक यौन भूमिका की वजह बनती हैं। प्रारंभ में वर्ष 1974 में समाजविज्ञानियों ने दाइयों के साथ मिलकर शिशु जन्म प्रक्रिया के प्रबंधन की दिशा में प्रयास किये। इस दौरान अवधारणा के विभिन्न परिणामों के सामाजिक प्रभावों पर विशिष्ट ध्यान दिया गया। उन्होंने विभिन्न सामाजिक समुदायों में गर्भावस्था का अध्ययन किया, ताकि प्रजनन क्षमता का तुलनात्मक विश्लेषण किया जा सके। उन्होंने यह भी अध्ययन किया कि विभिन्न समुदायों में प्रसवकालीन मृत्युदर, शिशुओं का कम वजन, गर्भावस्था के दौरान आने वाली परेशानियां क्या हैं। उन्होंने स्पष्ट किया कि निम्न सामाजिक वर्गों में गर्भावस्था के दौरान सुविधाओं और सेवाओं का अभाव है। इससे यह परिणाम निकाला गया कि गर्भवती महिलाओं के लिये और अधिक सुविधाएं प्रदान करने की आवश्यकता है, साथ ही गर्भवती महिलाओं को भी इन सेवाओं और सुविधाओं के प्रति जागरूक किया जाना जरूरी है।

8.6 जन्म नियंत्रण एवं गर्भपात प्रावधानों पर तर्क–वितर्क (Debates regarding provision of Birth Control and Abortion)

60 के दशक में जन्म नियंत्रण एवं गर्भपात के नियमों को लेकर बहस प्रारंभ हुयी, जिसे संसद में पारित प्रावधानों ने तेज किया। लेकिन, दाइयां और कुछ अन्य राजनीतिक समूह इन्हें लागू करने के पक्षधर नहीं थे, बल्कि वे चाहते थे कि जन्म की प्रक्रिया को सांस्थानिक स्वरूप दे दिया जाये। पूर्व में दाइयों और स्वास्थ्य सेवा प्रदाताओं के साथ काम कर चुके समाजशास्त्रियों ने इन मुद्दों पर सार्वजनिक बहस छेड़ी और अनचाहे, निरुद्देश्य गर्भधारण और इससे जुड़ी समस्याओं, अंतर्संबंधों की ओर ध्यानी खींचा। चूंकि अधिकतर समाजशास्त्रियों ने उदारवादी रुख अपनाया, उनका संबंध और समन्वय विभिन्न गर्भपात नियम सुधार संगठन (Abortion Law Reform Association) जैसे दबाव समूहों से हुआ, जिसने बाद में महिलाओं के बड़े आंदोलन का स्वरूप लिया। इसके साथ ही वे चिकित्सा व्यवसाय के कुछ क्षेत्रों के भी विरोधी बनकर उभरे।

8.7 शिशु जन्म का संस्थानीकरण (Instituionalization of Reproduction)

उपरोक्त मसले उठने के बाद समाजशास्त्रियों ने चिकित्सकीय रूढ़िवादिता के कुछ पहलुओं पर भी सवाल खड़े किये। 60 के दशक में दाइयों के काम में केन्द्रीकरण को बढ़ावा, विशेषज्ञ नियंत्रण का रुझान बढ़ गया था। इसके चलते अस्पतालों में प्रसव होने लगे, इसके साथ ही ऑपरेशन और उपकरणों की मदद से प्रसव की दर भी बढ़ी। अल्ट्रासोनिक स्कैन, गर्भस्थ शिशु की धड़कन मापने, एनेस्थेसिया, प्रसव पीड़ा को तेज करना आदि नयी तकनीकों का भी इस्तेमाल किया जाने लगा। समाजशास्त्रियों ने पाया कि निस्संदेह उस दौर में प्रसवकालीन मृत्युदर में खासी गिरावट दर्ज की गयी। उदाहरण के लिये ब्रिटेन में 1966 में यह दर प्रति हजार 26.6 थी, जो 1977 तक 17.1 रह गयी। लेकिन 1974 में इन परिवर्तनों को लेकर जोरदार बहस शुरू हुयी। कृत्रिम प्रसवपीड़ा को लेकर सवाल उठाये गये, कहा गया कि यह माताओं और नवजात शिशुओं में कई चिकित्साजनित समस्याओं का कारण बन रहा है और महिलाओं के लिये इसके परिणाम बेहद गंभीर थे। यह भी सवाल उठाया गया कि अकसर इस तरह के साधनों का इस्तेमाल महिलाओं के बजाय प्रसव करवाने वाले कर्मचारियों की सुविधा के लिये किया जाता था। गिरिजा (2013) के शोध के अनुसार भगछेदन (Episiotomy) वर्षों से प्रचलन में रहा है, जबकि महिलाओं को इसका अधिक लाभ नहीं होता है। यह स्वास्थ्य प्रक्रिया का एक ऐसा उदाहरण है जिससे प्रसवपीड़ा से गुजरने वाली हर महिला को गुजरना ही होता है, जबकि किसी भी मामले में इससे कोई विशेष सुविधा उजागर नहीं होती। अपनी पुस्तक में गिरिजा बताती हैं कि वर्ष 1993 तक पश्चिमी चिकित्सा से जुड़ी लगभग हर पुस्तक में प्रथमप्रसवा (Primiparous) यानी पहली बार शिशु को जन्म देने जा रही महिला, के लिये इस प्रक्रिया को नियमित प्रक्रिया बताया गया है। लेकिन बाद के संस्करणों में Williams Obstetrics जैसी पुस्तकों में इस तरह की प्रक्रियाओं को नियमित (यानी हर महिला पर उपयोगी) नहीं बताया गया है। भगछेदन दरअसल शल्य (Surgical) प्रक्रिया है, जिसके तहत महिला के संवेदनशील अंग की त्वचा को इस तरह काट दिया जाता है कि शिशु को गर्भ से निकलने में आसानी हो सके (Gupta 2017). 1975 से इस विषय और अन्य सभी मुद्दों को शामिल करने के साथ बहस और तेज हुयी, जिसमें स्वास्थ्य के केन्द्रीकरण, हस्तक्षेपी स्वास्थ्य विशेषज्ञों, शिशु जन्म के प्रबंधन आदि पर चर्चा बढ़ी। इस दौरान जो प्रमुख विषय स्त्री अधिकारवादियों द्वारा उठाये गये, वे थेः

- गर्भवती और प्रसवा महिलाओं पर इस्तेमाल की जाने वाली चिकित्सकीय प्रक्रियाओं का वैज्ञानिक आधार और सिद्धता क्या हैं?
- ये सभी तकनीकें और प्रक्रियाएं कितनी प्रभावी हैं?
- इन प्रक्रियाओं के प्रभाव का निर्धारण और निर्णय कौन करेगा? महिलाओं का अनुभव अथवा पुरुष चिकित्सक?
- महिलाओं के शरीर पर इस तरह की जाने वाली चिकित्सकीय घुसपैठ और सघन हस्तक्षेप के चिकित्साजनित प्रभाव क्या हैं?

महिलाओं के आंदोलन समूहों ने भी गर्भावस्था के दौरान देखभाल में मानवीय संबंध, सामान्य और विशेष मामलों में शिशु जन्म के लिये प्रबंधन को लेकर जिम्मेदारियों के निर्धारण जैसे सवाल उठाये। इसके जरिये प्रसूति विशेषज्ञों पर यह सवाल खड़े किये गये कि वे महिलाओं की व्यक्तिगत अवस्था या जरूरतों को समझने के बजाय सीधे एक ही तरह की चिकित्सकीय प्रक्रियाएं सभी पर लागू कर रहे हैं, नयी तकनीकों का, बिना यह मूल्यांकन किये कि उनका चिकित्सकीय प्रभाव क्या होने वाला है अथवा उनके मनौवैज्ञानिक–सामाजिक असर क्या हो सकते हैं, बिना सोचे–समझे उपयोग किया जा रहा है। इसके साथ ही यह भी सवाल खड़ा किया गया कि पूरी प्रक्रिया में महिलाओं को न तो चयन का अवसर दिया जाता है,

न ही उन्हें पर्याप्त सूचनाएं और जानकारियां उपलब्ध करायी जाती हैं। जैसाकि हम पहले जान चुके हैं कि स्त्री अधिकारवादी आंदोलनों की शुरुआत सबसे पहले अमेरिका में हुयी थी, जहां से यह विचार ब्रिटेन तक पहुंचा। समय के साथ अन्य देशों में भी इस दिशा में जागरूकता बढ़ी और भारत में भी राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीतियों में प्रसव, गर्भावस्था और शिशु स्वास्थ्य के मुद्दे शामिल किये गये।

8.8 भारत में संस्थानीकरण से जुड़े मुद्दे (Institutionalization in India: issues and Concerns)

भारत हमेशा से ही अधिक जनसंख्या वाले देशों में से एक रहा है। वर्ष 1952 में परिवार स्वास्थ्य से जुड़ा पहला कार्यक्रम भारत सरकार द्वारा प्रारंभ किया गया, जिसे राष्ट्रीय परिवार नियोजन कार्यक्रम (National Family Planning Programe) नाम दिया गया, जिसकी प्रमुख चिंता उच्च जन्मदर और सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवा में सुधार था। मौजूदा शिशु स्वास्थ्य कार्यक्रम का पहला चरण 1997 में प्रारंभ हुआ, जिसका मुख्य लक्ष्य जन्मदर को कम करना और मातृ–शिशु मृत्युदर में गिरावट था। दूसरे चरण (वर्ष 2005 से) में भी लक्ष्य लगभग यही थे, लेकिन तरीका इसलिये बदल गया था, क्योंकि कई राज्यों में जन्मदर में खासी गिरावट आ चुकी थी और अन्य गर्भावस्था व शिशु जन्म स्वास्थ्य से जुड़े विषयों पर अच्छा काम हो चुका था। राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वे–4 (NFHS-4) के आंकड़े बताते हैं कि बीते पांच साल में ग्रामीण इलाकों में सांस्थानिक शिशु जन्म के आंकड़े 29 प्रतिशत से बढ़कर 72 प्रतिशत तक हो चुके हैं। शहरी क्षेत्रों में भी शिशुओं के अस्पताल में जन्म लेने की दर बढ़ी है। राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वे–3 के अनुसार शहरी क्षेत्रों में यह प्रतिशतता 68 प्रतिशत थी, जो सर्वे–4 तक आते7आते 89 प्रतिशत हो गयी। इतना ही नहीं, सर्वे–4 के अनुसार सरकारी अस्पतालों में जन्म लेने वाले बच्चों का प्रतिशत 52 फीसदी हो चुका है, जबकि सर्वे–3 में यह प्रतिशतता महज 18 थी। घरों में ही प्रशिक्षित दाइयों के जरिये प्रसव करवाने की रीति में गिरावट देखी गयी। सर्वे–3 में यह कुल प्रसव का 8.2 प्रतिशत थी, जो सर्वे–4 में 4.3 रह गयी। अपने शोध में गुप्ता तर्क देते हैं कि यद्यपि सर्वे–4 के आंकड़े सुधार की ओर इशारा करते हैं, लेकिन इस अध्ययन की भी जरूरत है कि हालांकि सांस्थानिक प्रसव यानी अस्पतालों में प्रसव के आंकड़ों से मातृमृत्यु दर में गिरावट आयी है, लेकिन संस्थानीकरण के सार्वजनिक स्वास्थ्य व्यवस्था पर अलग प्रभाव भी पड़ते हैं। इसकी मुख्य वजह कुशल और प्रशिक्षित कर्मचारियों, बेहतर सुविधाओं, स्थान और दवाओं का अभाव है। (Gupta 2017).

8.9 संस्थानीकरण और इसका प्रभाव (Institutionalization and Its Impact)

विभिन्न शोधकर्ताओं ने स्पष्ट किया है कि किस तरह संस्थानीकरण और चिकित्सीकरण महिलाओं के स्वास्थ्य के लिये नुकसानदेह हो सकता है और किस तरह इन प्रक्रियाओं की वजह से चिकित्साजनित प्रभाव सामने आते हैं। गिरिजा (2013) बताती हैं कि प्रसव से गुजरने वाली हर महिला के लिये भगछेदन (Episotomy) को नियमित मान लिया जाना किसी विशेष मामले में बेहद खतरनाक हो सकता है। गिरिजा मानती हैं कि भारत जैसे देश में इसका इस्तेमाल नहीं किया जाना चाहिये, जहां अधिकतर महिलाएं एनीमिक (Anemic: खून की कमी) हैं और इस प्रक्रिया का इस्तेमाल उन पर किये जाने से अत्यधिक रक्तस्राव तथा संक्रमण शिशु जन्म के दौरान माता की मृत्यु का कारण बन सकता है। इसी तरह महिलाओं को अस्पताल स्टाफ द्वारा दिये जाने वाले ऑक्सीटोसिन (Oxytocin: वह हारमोन, जिसे इंजेक्शन के जरिये अकसर प्रसवपीड़ा को कम करने, गर्भाश्य को खोलने के लिये ताकि शिशु आसानी से बाहर आ सके

और शिशु जन्म के बाद स्तनपान में मदद के लिये दिया जाता है) के इस्तेमाल की भी निगरानी और इसके प्रभावों का अध्ययन जरूरी है। (Sadgopal, 2009)

राजस्थान में हुये कई अध्ययनों में साफ हुआ कि चिकित्सकीय उपेक्षा, एक्सपायर हो चुकी दवाओं के इस्तेमाल से वहां कई महिलाओं की मौत हुयीं। गंदे शल्य उपकरणों के इस्तेमाल के कारण संक्रमण भी इसकी बड़ी वजह थी। इनके अलावा ऊष्मानियंत्रक मशीनों (Incubator) में रखे जाने वाले नवजात शिशुओं की भी मौत सामने आयीं। इसकी वजह अचानक बिजली चले जाने के कारण मशीनों का काम करना बंद करना अथवा कई बार ओवरलोड होने से मशीनों में आग लग जाना भी रहीं। इस सन्दर्भ में भी मृत्युदर की जांच आवश्यक है। एक अन्य पहलू यह है कि शिशु जन्म की सांस्थानिक व्यवस्था में महिला के गर्भवती होने के साथ ही उसे दवाएं देना प्रारंभ कर दिया जाता है। इनमें फोलिक एसिड, कैल्शियम, विटामिन सप्लीमेंट आदि शामिल होते हैं। सुजाता (2014) बताती हैं कि भारत में भी कुछ यही व्यवस्था चलती है, जबकि यहां यह ध्यान दिया जाना आवश्यक है कि जिन निर्धन वर्ग की महिलाओं को ये दवाएं दी जा रही हैं, उनमें से अधिकतर के पास बेहतर भोजन भी उपलब्ध नहीं हो पाता। ऐसे में कई बार बिना पर्याप्त भोजन के अथवा खाली पेट ही सेवन कर लिये जाने पर सिंथेटिक विटामिन और अन्य दवाएं महिलाओं के शरीर में घातक रिएक्शन की वजह बनती हैं। यह इस बात का उदाहरण है कि किस तरह कोई सामाजिक समस्या स्वास्थ्य समस्या बन जाती है। यहां हमारे मन में यह सवाल उठ सकता है कि क्या ये लेखक और शोधकर्ता संस्थानीकरण और सार्वजनिक स्वास्थ्य व्यवस्था में फोलिक एसिड–विटामिन जैसी दवाओं के वितरण के विरोध में हैं? स्पष्टतः इसका जवाब ना है। वस्तुतः ये लेखक वृहद सामाजिक सन्दर्भ में स्वास्थ्य संबंधी समस्याओं को उभारते हैं और उनका तर्क यह है कि मौजूदा स्वास्थ्य मॉडल में चिकित्सीकरण प्रक्रिया में सांस्कृतिक और सामाजिक प्रभावों का की अनदेखी की जाती है।

8.10 चिकित्सा विज्ञान की प्रकृतिः पूंजीवादी अथवा पुरुषवादी (Nature of Medical Science: Capitalist or Masculinist)

अब तक हम जान चुके हैं कि ब्रिटेन और अन्य देशों में चिकित्सा विशेषज्ञों ने शिशु जन्म को चिकित्सकीय प्रक्रिया से जोड़ा, जिसके महिलाओं के शरीर पर पड़ने वाले प्रभावों को लेकर लंबी बहस भी चली। यह स्त्री अधिकारवादियों की अवधारणा का एक पहलू था, अब हम जानेंगे कि स्त्री अधिकारवादी समूहों ने बाद के वर्षों में दवाओं के सामाजिक प्रभावों पर भी चिंता जतायी। पार्सन (Parsons) ने सबसे पहले अपने निबंध सिक रोल (**Sick Role**) में दवाओं को सामाजिक नियंत्रण के एक कारक के तौर पर स्पष्ट किया। पार्सन के अनुसार आधुनिक चिकित्साविज्ञान में समाज के सफल संचालन के लिये सामाजिक नियंत्रण आवश्यक है, लेकिन स्त्री अधिकारवादी पार्सन के इस तर्क से सहमत नहीं हैं। उनका तर्क है कि दवाओं की सीमाएं लगातार खिंच रही हैं, जिससे ये खर्चीली होती जा रही हैं। इसके अलावा पितृसत्तात्मक कारकों की वजह से चिकित्सकीयकरण प्रक्रियाओं में बढ़ोतरी के कारण महिलाओं के जीवन पर सामाजिक नियंत्रण भी बढ़ रहा है। चिकित्सकीय सामाजिक नियंत्रण को कई तरीकों से अवधारित किया गया है, लेकिन स्त्री अधिकारवादियों ने इसके गर्भवती महिलाओं और शिशु जन्म की प्रक्रिया के पहलू पर ही अधिक चिंता जतायी है। इस विषय में हम पहले ही जान चुके हैं कि चिकित्सा विशेषज्ञ किस तरह शिशु जन्म की प्रक्रिया को अपने हिसाब से नियंत्रित करते हैं और अस्पतालों में शिशु जन्म के संस्थानीकरण की वजह से

किस तरह की चिकित्साजनित समस्याएं उभरती हैं। स्त्री अधिकारवादियों में महिलाओं के प्रजनन स्वास्थ्य के चिकित्सकीयकरण को लेकर जो प्रमुख विचार आते हैं, वे निम्नवत हैं:

दवाओं–उपचार में पुरुषवाद (Medicines as Malestream)

पश्चिमी स्त्री अधिकारवादियों ने दवाओं और उपचार को मुख्यधारा (Mainstream) के बजाय पुरुषवादीधारा (Malestream) कहा है। इसका कारण यह है कि महिलाओं के शरीर पर पुरुष चिकित्सक नियंत्रण रखते हैं, जिसका एक उदाहरण नयी प्रसव तकनीकों का इस्तेमाल है। स्त्री अधिकारवादियों ने हमेशा इस बात पर जोर दिया है कि अपने शरीर पर महिला का ही अधिकार होना चाहिये और तर्क दिया है कि नयी तकनीकों में यह खतरा बना रहता है कि पुरुष चिकित्सक महिला के शरीर को अपने अनुसार नियंत्रित कर सकते हैं। स्त्री अधिकारवादी तर्क देते हैं कि चिकित्सकीय तकनीक के जरिये महिलाओं पर नियंत्रण मातृत्व (Motherhood) की अवधारणा को लागू करते हैं जो पितृसत्तात्मक और पूंजीवादी व्यवस्था से जुड़ी है और इस पूरी प्रक्रिया का एक हिस्सा दवाएं और उपचार भी हैं जो नयी स्वास्थ्य तकनीकों में मददगार बनती हैं। हालांकि, स्त्री अधिकारवादियों में इस बिन्दु पर अलग–अलग विचार भी सामने आते हैं। कुछ इन तकनीकों का समर्थन करते हैं तो कुछ विरोध। उग्र या आमूल परिवर्तनवादी (Radical) स्त्री अधिकारवादी मानते हैं कि महिलाओं की प्रजनन क्षमता पर पुरुषों का नियंत्रण पितृसत्तात्मक व्यवस्था का उत्पीड़नात्मक कदम है। लेकिन कुछ ने नयी तकनीकों का यह कहकर समर्थन किया है, 'कृत्रिम साधनों का विकास एक तरह से पितृसत्तात्मक व्यवस्था को खत्म करने का प्रयास है, जिसके जरिये महिलाओं को प्रजनन के बोझ से स्वतंत्र कर पाना संभव हुआ है।' दूसरी ओर, विरोधी तर्क देते हैं, 'महिलाएं ही जन्म देने का माध्यम हैं, यह तथ्य उस शक्ति का स्रोत बनना चाहिये जिसका नियंत्रण महिलाओं के ही हाथों में हो।' वह कहते हैं कि जैविक अभिभावक होना समस्या की वजह नहीं है, बल्कि मातृत्व है, क्योंकि पितृसत्तात्मक व्यवस्था ने इसे अपने तरीके से सांस्थानिक स्वरूप दे दिया है। हालिया आमूल परिवर्तनवादी स्त्री अधिकारवादी लेखकों का मानना है कि प्रजनन स्वास्थ्य संबंधी नयी तकनीकों का विस्तार इस अवधारणा को मजबूत करता है कि इनके इस्तेमाल की बुनियादी सोच महिलाओं की रुचियों अथवा जरूरतों को पूरा करने की नहीं है।

पूंजीवाद, पितृसत्ता और उपचार (Capitalism, Patriarchy and Medicines)

मार्क्सवादी स्त्री अधिकारवादी तर्क देते हैं कि पूंजीवाद, पितृसत्ता और दवा–उपचार एक दूसरे से जुड़े हुये हैं। उनका मानना है कि चिकित्सा विशेषज्ञ महिलाओं के नियंत्रण की अवधारणा को मजबूत करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। महिलाओं की घरेलू भूमिका को प्रकृतिप्रदत्त तथ्य बनाकर उनकी मातृत्व एवं पोषण की भूमिकाओं को बांध दिया जाता है। इस तरह पूंजीवादी व्यवस्था का स्वरूप सामने आता है कि महिलाओं को अगली पीढ़ी के पोषण और विकास के श्रमसाध्य काम का जिम्मा बेहद कम मूल्य अथवा नगण्य मूल्य पर सौंप दिया जाता है। मार्क्सवादी स्त्री अधिकारवादियों ने उन तरीकों की पहचान की है, जिनके जरिये पितृसत्तात्मक व्यवस्था में महिलाओं को समाज में दोयम स्थान दे दिया जाता है और वे पाते हैं कि इन प्रक्रियाओं में स्वास्थ्य संबंधी ज्ञान अहम भूमिका निभाते हैं, जिनके जरिये महिलाओं को शिशु की देखभाल और गृहिणी बने रहने पर जोर दिया जाता है। उनका तर्क है कि सामयिक पूंजीवाद में नयी तकनीकें विशेषतः कृत्रिम गर्भाधान (In-vitro Fertilization: IVF) महिलाओं के स्वास्थ्य, उनकी यौन और प्रजनन क्षमता और आवश्यकताओं पर पुरुषों के नियंत्रण का प्रयास हैं। यद्यपि कृत्रिम गर्भाधान को

निःसंतानता के उपचार के तौर पर देखा जाता है, लेकिन तकनीक के इस्तेमाल पर जोर प्रजनन क्षमता के नियंत्रण का तरीका है।

नयी प्रजनन तकनीकों पर विचार (Different Takes on New reproductive Technologies)

समर्थन (Favour)	विरोध (Against)
आधुनिक उपचार में जांच और इलाज की ऐसी कई नयी तकनीकों का विकास किया है, जिनसे जीवन पर खतरा बनने वाली कई परिस्थितियों से निपटना संभव हुआ है।	प्रजनन स्वास्थ्य संबंधी क्षेत्र में नयी तकनीकों का विकास चिकित्सकीय उपचार के बजाय अधिक तकनीकी और हस्तक्षेपी महसूस होता है
इन तकनीकों की मदद से ऐसी महिलाओं को भी मां बनने का सुख प्रदान किया जाना संभव हो सका है, जो गर्भधारण कर पाने में अक्षम हैं	इन तकनीकों की मदद से भले ही सामाजिक तौर पर गर्भधारण में अक्षम महिला को मातृत्व का दर्जा दिलाया जा सकता है, लेकिन इनमें महिलाओं की स्वायत्तता को विभिन्न तरीकों से नियंत्रित किया जाता है और इससे बच्चे की आस में महिलाओं के उत्पीड़न का जोखिम भी बढ़ जाता है

स्त्री अधिकारवाद एवं स्वास्थ्य क्षेत्र (Feminism and Healthcare sector)

स्त्री अधिकारवादी मानते हैं कि अधिकतर स्वास्थ्य देखभाल संबंधी अधिकतर संगठन और संस्थान ऐसी पदानुक्रम व्यवस्था (Hierarchical System) में चलते हैं, जिनमें डॉक्टर (अधिकतर पुरुष) सबसे उच्चक्रम पर होते हैं और नर्स (अधिकतर महिलाएं) निचले क्रम पर होती हैं। इस तरह इन संस्थानों में रोजगार भी लैंगिक आधार पर तय होते हैं, जिनमें पुरुष ही अधिकतर डॉक्टर होते हैं और अधिकतर नर्स महिलाएं ही होती हैं। हालांकि, विभिन्न कार्यक्षेत्रों में महिलाएं अहम भूमिका का निर्वहन करती हैं, लेकिन स्वास्थ्य देखभाल संबंधी क्षेत्र में प्रबंधन और निर्णय क्षमता वाले पदों में महिलाओं का बेहद कमजोर प्रतिनिधित्व होता है, जिसका स्वास्थ्य सेवाओं और मरीजों की सुरक्षा पर असर पड़ सकता है। सुजाता (2014) बताती हैं कि अमेरिका में 90 प्रतिशत फिजीशियन (Physicians) पुरुष हैं, जबकि महिलाओं को नर्सिंग और स्वास्थ्य क्षेत्र की अन्य सेवाओं में ही भूमिका मिलती है। स्टेसी (1995) बताती हैं कि ब्रिटेन में पहले शिशु जन्म और प्रजनन स्वास्थ्य संबंधी कार्य दाइयों के जिम्मे थे। दाइयां व्यक्तिगत अनुभव और पीढ़ी दर पीढ़ी चलने वाली जानकारियां रखती थीं और अपने कौशल व पारंपरिक तरीकों की मदद से दूसरी महिलाओं को गर्भधारण से लेकर शिशु जन्म तक आने वाली समस्याओ ंका समाधान करती थीं, लेकिन समय के साथ पुरुष चिकित्सकों ने इनका स्थान लेकर इस पूरी प्रकिया का नियंत्रण हासिल कर लिया और ऐसा करने के लिये उन्होंने दाइयों को खतरनाक तक सिद्ध किया। स्टेसी तर्क देती हैं कि यह दरअसल पुरुषवादी धारा का राजनीतिक कदम था, जिससे वे दाइयों का स्थान ले सकें और महिलाओं की प्रजनन क्षमता को नियंत्रित कर सकें। भारत में भी ब्रिटिश शासनकाल में दाइयों को विशेष प्रशिक्षण देने की शुरुआत हुयी, जिसका लक्ष्य मातृ मृत्युदर को कम करना और प्रसव के दौरान स्वच्छता (Hygiene) का ख्याल रखने को बढ़ावा देना था। दाइयों को बेहद खतरनाक बताकर प्रचारित किया गया। अपने लेख में सदगोपाल बताती हैं कि दाइयां महिला स्वास्थ्य व्यवस्था की महत्वपूर्ण कड़ी हैं। भारत और दक्षिण एशिया में दाइयों को महिलाओं के प्रसव करवाने और शिशुओं की देखभाल का ज्ञान है। भारत के सभी हिस्सों में दाइयां अपनी सेवाएं देती

रही थीं और इन्हें अलग–अलग नामों से जाना जाता था। इनके लिये दाई शब्द का इस्तेमाल उत्तर भारत में आमतौर पर किया जाता थे। वह बताती हैं कि दाइयों का कार्य श्रम और जाति आधारित पदानुक्रम पर आधारित था। उदाहरण के लिये दलितों को प्रसवोत्तर सेवाएं प्रदान करने का जिम्मा दिया जाता था, लेकिन भारत में दवाओं के आगमन के साथ दाइयों की भूमिका उपेक्षित होती चली गयी। इस प्रक्रिया में दाइयों पर सुरक्षा मानकों को लेकर सवाल भी उठाये गये।

भारत में मातृ मृत्युदर को घटाने और अस्पतालों में प्रसव को बढ़ावा देने के प्रयास किये गये, जिसके चलते दाइयों के काम और उनकी भूमिका पर प्रश्नचिह्न खड़े हो गये, जो पहले घरों में ही प्रसव करवाने का काम करती थीं और विशेषकर ग्रामीण भारत में सांस्थानिक प्रसव का जरिया थीं। मौजूदा दौर में उनकी भूमिका बेहद सीमित कर दी गयी हैं और अब वे मात्र गर्भवती महिलाओं को अस्पतालों तक पहुंचाने का एक जरिया बनकर रह गयीं अथवा अस्पताल में गर्भवती महिलाओं के साथ रहने और प्रसव के बाद नवजात शिशुओं की देखभाल ही उनका काम रह गया है। उन्हें विभिन्न योजनाओं–कार्यक्रमों के जरिये शिक्षा और प्रशिक्षण देकर पारंपरिक जन्म सहायक (Traditional Birth Assistant) का दर्जा दिया गया है। इसके चलते घरों में ही प्रसव करवाने की दाइयों की पारंपरिक भूमिका पूरी तरह हाशिये पर चली गयी है और अब वे महज ग्रामीण क्षेत्रों में प्रतिरक्षण (Immunization), परिवार नियोजन, क्षयरोग और एचआईवी–एड्स नियंत्रण व जागरूकता कार्यक्रमों का एक माध्यम रह गयी हैं। लेकिन यहां यह पहलू भी अहम है कि गांवों में आज भी स्वास्थ्य शिक्षा के लिये दाइयां ही सबसे विश्वसनीय स्रोत मानी जाती हैं।

8.11 सारांश (Sum Up)

हम पहले यह जान चुके हैं कि महिलाओं का स्वास्थ्य, विशेषकर प्रजनन क्षेत्र में, उनके नारीत्व के समानांतर देखा जाता है, जिसके कारण उसके जीवन से जुड़ी अधिकतर घटनाओं का चिकित्सकीयकरण कर दिया गया है। गर्भावस्था, रजोनिवृत्ति और प्रीमेन्स्ट्रुअल सिन्ड्रोम (Premenstrual Syndrome) जैसी महिलाओं की स्थितियां कभी दाइयों और महिला रिश्तेदारों से विमर्श का विषय होती थीं, लेकिन अब ये चिकित्सकीय हस्तक्षेप की जगह बन गयी हैं। हमने यह जाना कि किस तरह स्त्री अधिकारवादियों ने चिकित्सकीय प्रक्रियाओं की आलोचना की है, उनका तर्क यह है कि चिकित्सकीय प्रक्रियाओं के कई विपरीत सामाजिक और स्वास्थ्य प्रभाव होते हैं। चिकित्सकीय प्रक्रियाओं का एक परिणाम दैनन्दिन जीवन में दवाओं का नियंत्रण बढ़ जाना है। इसके अलावा यह भी कि किस तरह घर में होने वाले प्रसव समय के साथ अस्पतालों में विशेषज्ञ चिकित्सकों की निगरानी में होने लगे और इससे यह प्रक्रिया सामाजिक क्षेत्र से निकलकर चिकित्सकीय क्षेत्र का हिस्सा बन गयी। स्त्री अधिकारवादी तर्क देते हैं कि चिकित्सकीय प्रक्रियाएं उन सांस्कृतिक, सामाजिक नियमों और विशेष तकनीकों को इस्तेमाल करने पर जोर देती हैं जो पितृसत्तात्मक व्यवस्था में यथास्थिति बनाये रखने में मददगार हों और इसके पर्याप्त साक्ष्य उन तरीकों में मिलते हैं, जो नयी प्रजनन तकनीकों में इस्तेमाल किये जाते हैं। अंत में हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि समाज में महिलाओं की भूमिका को नकारा नहीं जा सकता है। यद्यपि महिला सेवाप्रदाताओं की यहां अधिकता नजर आती है, लेकिन स्वास्थ्य सेवा का क्षेत्र अब भी अन्य क्षेत्रों जैसा ही है, जहां आज भी उच्च और प्रबंधकीय पदों पर पुरुषों का ही एकाधिकार है। उदाहरण के लिये पुरुष आज भी डॉक्टर ही बनने का प्रयास करते हैं, नर्स नहीं। यह मान लिया जाता है कि नर्सिंग का काम महिलाएं ही करेंगी। इस तरह यहां यह अति आवश्यक हो जाता है कि स्वास्थ्य सेवा के क्षेत्र में महिलाओं को भी बेहतर और अधिक हिस्सा देने

की व्यवस्था सुनिश्चित की जाये, क्योंकि स्वास्थ्य सेवा क्षेत्र में महिलाओं की भूमिका और उनका योगदान काफी अहम है।

8.12 अभ्यास प्रश्न (Exercise)

- चिकित्सकीयकरण क्या है, इसका वर्णन करते हुये दो उदाहरण भी दें।
- स्त्री अधिकारवाद के तीन प्रकारों का वर्णन करें।
- भारत में जन्म के संस्थानीकरण की शुरुआत क्यों हुयी, विस्तार से बतायें।

8.13 सहायक अध्ययन (Suggested Readings)

- Conrad (2007). *The Medicalization of Society: On the Transformation of Human Conditions into Treatable Disorders*. Baltimore: The Johns Hopkins University Press
- Girija, P. L. T. 2013. '*Jeevani: Ayurveda for Women'*. Chennai: Sanjeevani Ayurveda Foundation.
- Greil et.al .2010. 'The experience of infertility: A review of recent literature'. *Sociology of Health & Illness,*32:1, pp. 140–162
- Gupta Mitushi (2017),' Gender And Medicine: A Study Of Ayurvedic Therapeutics For Infertility In Two Hospitals, Thesis Submitted JNU, New Delhi.
- Sujatha .V and LeenaAbaraham (eds.) 2012. *Medical Pluralism in contemporary India.* New Delhi:Orient black Swam.
- Sujatha.V. 2014. '*Sociology of Health and Medicine, new perspectives*'. New Delhi: Oxford Univesity Press.
- Sadgopal M. 2009. 'Can Maternity Services Open Up to the Indigenous Traditions of Midwifery*' Economic and political weekly.* Vol. 44, Issue No. 16, 18.
- Stacy(1978), 'the sociology of health and illness: its present state, future prospects and potential for health research' Sage publications Volume: 12 issue: 2, page(s): 281-307
- Rothman (1989/2000). Recreating motherhood. Rutgers university press, new Brunswick, new jersey,

इकाई -9

बहुल चिकित्सा ज्ञान एवं चिकित्सा कर्म व्यवस्था (Approaches To Plural Medical Knowledge And Practice Systems)

9.1 उद्देश्य

9.2 परिचय
9.3 चिकित्सा व्यवस्था के प्रकार
9.4 विभिन्न चिकित्सा व्यवस्थाओं की उपलब्धता के कारण
9.5 चिकित्सा समन्वय एवं एकीकरण
9.6 चिकित्सा बहुलवाद के लाभ
9.7 भारत में चिकित्सा बहुलवाद का विकास
9.8 भारत में प्रचलित विभिन्न चिकित्सा व्यवस्थाएं
9.9 आयुष का मुख्यधाराकरण
9.10 निष्कर्ष
9.11 अभ्यास प्र"न
9.12 भावी अध्ययन

9.1: उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के जरिये हम बहुल चिकित्सा ज्ञान एवं चिकित्सा कर्म व्यवस्था को विस्तार से समझ सकेंगे।

9.2 परिचय (Introduction)

चिकित्सकीय परंपराएं विभिन्न विचारों, अभ्यासों, कौशल, उपकरणों और भौतिक चिकित्सा व्यवस्था का संयोजन हैं (Young, 1983). प्रत्येक चिकित्सा व्यवस्था किसी न किसी दर्शन पर आधारित है। किसी समाज में विभिन्न चिकित्सा व्यवस्थाओं का सहअस्तित्व चिकित्सा बहुलवाद कहलाता है। अफ्रीका, एशिया और लैटिन अमेरिका में चिकित्सकीय मानवविज्ञान और चिकित्सा बहुलवाद पर उल्लेखनीय काम किया गया है। चिकित्सा व्यवस्था के ये स्वरूप पारंपरिक चिकित्सा से इतर भौतिक, मनोवैज्ञानिक, आध्यात्मिक हो सकते हैं और इनके जरिये बड़ी आबादी को चिकित्सा उपचार के बेहतर विकल्प मुहैया कराये जा सकते हैं। इन चिकित्सा कार्यों को सहायक और वैकल्पिक चिकित्सा **(complementary and alternative medicine: CAM)**, पारंपरिक–वैकल्पिक और सहायक चिकित्सा **(traditional, complementary and alternative medicine: TCAM)** और सहायक एवं एकीकृत चिकित्सा **(complementary and integrative medicine: CIM)** कहा जाता है। इस तरह पारंपरिक चिकित्सा व्यवस्था के साथ अन्य वैकल्पिक उपचारों को चिकित्सा बहुलवाद कहा जाता है। किसी बीमारी या स्वास्थ्य संबंधी परेशानी के दौरान उपचार का सही तरीका तलाश करना व्यक्ति की तात्कालिक इच्छा पर निर्भर करता है। चिकित्सा बहुलवाद की अवधारणा सबसे पहले अमेरिकी मानवविज्ञानी चार्ल्स मिलर लेस्ली ने दी थी। उनके अनुसार चिकित्सा बहुलवाद के उभार के पीछे प्रमुख कारण यह है कि जैविक उपचार के तरीकों से मरीजों के इलाज में पूरी मदद नहीं मिल पायी। हर चिकित्सा व्यवस्था सीमाओं में बंधी हुयी है और इसी वजह से वैकल्पिक उपचार शैलियों की तलाश की जरूरत होती है। लेस्ली का कार्य जैवचिकित्सा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण माना जाता है। आयुर्वेद, यूनानी और पारंपरिक चीनी चिकित्सा पद्धतियां प्राचीन चिकित्सा ग्रंथों पर आधारित हैं और इन ग्रंथों का अध्ययन करने वाले विशेषज्ञ इन चिकित्सा क्रियाओं को संपन्न करते हैं। सुजाता (2014) बताती हैं कि आधुनिक और विभिन्न पारंपरिक चिकित्सा पद्धतियों का सहअस्तित्व समाज में सामान्य रूप से देखी जाने वाली घटना है। यह ऐसे समाजों में अधिक प्रचलित हैं, जहां कोई एक चिकित्सा पद्धति अकेले पूरी आबादी की स्वास्थ्य आवश्यकताओं की पूर्ति कर पाने में सक्षम नहीं होती।

9.3 चिकित्सा व्यवस्था के प्रकार (Types of Medical Systems)

चिकित्सा व्यवस्थाओं को सामान्य रूप से बीमारी और स्वास्थ्य के प्रति समुदाय के विचारों और अभ्यास के रूप में अवधारित किया जा सकता है (Geisler and Pool, 2005:40). हर चिकित्सा व्यवस्था के ये तीन बुनियादी घटक होते हैं:

- हेतुविज्ञान, रोग का कारण
- परीक्षण, रोग का निर्धारण करने का माध्यम
- उपचार, रोग के निदान की तकनीक

डन (1976) ने भौगोलिक और सांस्कृतिक परंपराओं के आधार पर चिकित्सा व्यवस्था के तीन प्रकार बताये हैं:

- **स्थानीय चिकित्सा व्यवस्थाः** इस तरह की व्यवस्थाएं बेहद छोटे क्षेत्र तक सीमित होती हैं और इन्हें पारंपरिक उपचार के नाम से जाना जाता है
- **क्षेत्रीय चिकित्सा व्यवस्थाः** यह व्यवस्था अपेक्षाकृत विस्तृत क्षेत्र में प्रचलित होती हैं, जैसे आयुर्वेद, यूनानी, होम्योपैथी आदि
- **महानगरीय चिकित्सा व्यवस्थाः** यह कथित आधुनिक चिकित्सा पद्धति है, वैज्ञानिक तरीकों पर आधारित यह चिकित्सा व्यवस्था वैश्विक रूप से उपयोग की जाती है

विश्व स्वास्थ्य संगठन ने पारंपरिक से इतर अन्य चिकित्सा व्यवस्थाओं की तीन व्यवस्थाएं बतायी हैं:

- ज्ञान, कौशल और सिद्धांतों पर आधारित पारंपरिक चिकित्सा, विभिन्न संस्कृतियों के पारंपरिक अनुभव (चाहे उन्हें समझाना संभव हो या नहीं) स्वास्थ्य देखभाल, संरक्षात्मक, परीक्षण, सुधार और शारीरिक एवं मानसिक बीमारियों के इलाज के तौर पर इस्तेमाल किये जाते हों
- अन्य उपचार वैकल्पिक या सहायक चिकित्सा हैं, जो उस विस्तृत चिकित्सा व्यवस्था का हिस्सा हैं, जो किसी देश की अपनी परंपरा से संबंधित नहीं हैं, न ही पारंपरिक चिकित्सा व्यवस्था का अंग हैं, इसके अलावा वे चिकित्सा व्यवस्था का एकीकृत अंग भी नहीं होतीं
- तीसरी व्यवस्था जड़ी–बूटी चिकित्सा की है, जिनमें जड़ी–बूटियों से जुड़े तत्वों, इनसे औषधियों के निर्माण, पौधों–वनस्पतियों के हिस्से आदि शामिल हैं

व्यापक रूप से देखें तो वैकल्पिक एवं सहायक चिकित्सा दरअसल उन चिकित्सा व्यवस्थाओं के लिये उपयोग किया जाने वाला नाम है, जिन्हें मेडिकल कॉलेजों में नहीं पढ़ाया जाता और जो पारंपरिक चिकित्सा व्यवस्था से भी अलग हैं। एक अध्ययन के अनुसार अमेरिका में सामान्य जनसंख्या के बीच बीते कुछ दशकों में सहायक एवं वैकल्पिक चिकित्सा (CAM) का उपयोग बढ़ा है और आबादी का 29 प्रतिशत से 42 प्रतिशत तक हिस्सा इस चिकित्सा के किसी एक प्रकार पर निर्भर है, इनमें आध्यात्मिकता, धर्म और प्रार्थनाएं शामिल नहीं हैं, लेकिन अगर इन तीनों को भी शामिल कर लिया जाये तो इस चिकित्सा व्यवस्था पर

निर्भरता की प्रतिशतता 62 प्रतिशत तक पहुंच जाती है। हालांकि, यहां यह भी महत्वपूर्ण तथ्य है कि अमेरिका में इस चिकित्सा व्यवस्था का उपयोग सामान्य रोगों, जैसे जोड़ों का दर्द, आर्थराइटिस, सिरदर्द आदि के लिये ही किया जाता है, गंभीर बीमारियों के इलाज में नहीं।

विभिन्न समाजविज्ञानियों ने चिकित्सा बहुलवाद को विविध मापदंडों के आधार पर वर्गीकृत किया है। डन (1976) ने पारिस्थितिकी के आधार पर वर्गीकरण किया है, इसके अलावा अन्य वर्गीकरण जैवचिकित्सा व वैकल्पिक चिकित्सा के समन्वय के आधार पर किये गये हैं। (Cant and Sharma 1999). तीसरा वर्गीकरण शारीरिक और मानसिक बीमारियों के उपचार की उपलब्धता पर आधारित है। ये तीन प्रकार निम्नवत हैं:

- मुख्यधारा की चिकित्सा व्यवस्था, जिसे राज्य द्वारा समर्थन मिलता है, संस्थानीकृत किया जाता है और जिसके लिये कानूनी एवं पेशेवर व्यवस्था उपलब्ध है। शोधकर्ता चिकित्सा संस्कृति के इस प्रकार को विशिष्ट बताते हैं।
- दूसरे प्रकार में वह चिकित्सा व्यवस्था आती है, जिसे राज्य से समान रूप से समर्थन प्राप्त होता है और ये व्यवस्थाएं समान रूप से समन्वित होती हैं। समाजशास्त्री इसे सहिष्णु व्यवस्था का हिस्सा मानते हैं।
- तीसरा प्रकार एकीकरण चिकित्सा व्यवस्था का है, जिसमें चिकित्सा व्यवस्थाओं में समन्वय से बहुलवाद उभरता है। यहां पारंपरिक चिकित्सा विशेषज्ञ अपनी पद्धति के आधार से जुड़े रहते हुये अन्य चिकित्सा व्यवस्थाओं से तकनीक एवं विचारों को लेकर उनका उपयोग चिकित्सा में करते हैं।

चिकित्सा विकल्पों के आधार पर चिकित्सा बहुलवाद पेशेवर, पारंपरिक या लोकप्रिय हो सकते हैं।

- पेशेवर सेक्टर व्यवस्थित है और इसका अभ्यास प्रशिक्षित विशेषज्ञों द्वारा किया जाता है। भारत में आयुर्वेद, होम्योपैथी आदि पद्धतियां भी इसमें शामिल हैं। इन चिकित्सा पद्धतियों को भी सरकार की देखरेख में व्यवस्थित किया जाता है।
- एक अन्य सेक्टर है पारंपरिक या लोकचिकित्सा, जो सांस्कृतिक परंपराओं और दर्शन पर आधारित है। इस पद्धति में उपचार धार्मिक या सांसारिक तरीकों से उपचार किया जाता है। धार्मिक तरीकों में पारलौकिक शक्तियों का इस्तेमाल, सांसारिक पद्धतियों में जड़ी–बूटियों से उपचार शामिल है।
- तीसरा सेक्टर है लोकप्रियता का, ये उपचार पद्धतियां साझा सांस्कृतिक समझ और पारंपरिक उपचार से विकसित होती हैं। लोग स्वयं, परिजनों या दोस्तों की मदद से इसका इस्तेमाल करते हैं।

कृत्रिम बहुलवाद (Forced Pluralism)

किसी मरीज के लिये सबसे महत्वपूर्ण है चिकित्सा सुविधा की उपलब्धता, उस तक पहुंच और गुणवत्ता और जो उसके आसपास ही मौजूद हो। कुछ मामलों में, विशेष भौगोलिक क्षेत्रों में लोगों की पहुंच बेहतर चिकित्सा तक नही हो पाती। ऐसे में उनके पास वैकल्पिक रूप में लोकचिकित्सा या अन्य तरीके ही बचते हैं। सामाजिक–आर्थिक रूप से पिछड़े किसी क्षेत्र में विशेषज्ञ चिकित्सा सेवा की कमी या चिकित्साकर्मियों

की विफलता रोगियों को अपने स्थान पर स्वयं की चिकित्सा पद्धति को छोड़कर जब किसी अन्य तरीके का इस्तेमाल करने पर मजबूर होना पड़ता है तो इसे कृत्रिम बहुलवाद कहा जाता है।

9.4 विभिन्न चिकित्सा व्यवस्थाओं की उपलब्धता के कारण (Factors Responsible for Availing Different Medical Systems)

दुनियाभर के देशों में, चाहे वे विकसित हों अथवा विकासशील, चिकित्सा बहुलवाद की मौजूदगी नजर आती है। इसके कारण सामाजिक–आर्थिक, सांस्कृतिक, चिकित्सकीय और कई बार स्थानीय भी होते हैं।

- **सामाजिक–आर्थिक कारणः** औद्योगिक दुनिया में जैवचिकित्सा की सीमाएं हैं। वैकल्पिक चिकित्साओं की गुणवत्ता में सुधार ने जैवचिकित्सा की सीमाओं को खत्म किया है, जिससे CAM उच्च आय वर्ग में प्रचलित हो गया है। दूसरी ओर, निर्धनता और पारंपरिक चिकित्सा का अभाव भी निर्धन देशों में वैकल्पिक चिकित्सा के बढ़ावे की वजह रहा।
- **विशिष्ट चिकित्सा व्यवस्था की सीमाएंः** दुनियाभर में आपात स्थितियों, गंभीर हालात और सर्जिकल समस्याओं पर जैव चिकित्सा पर ही भरोसा करते हैं। पुरानी बीमारियों और कुछ अन्य मामलों में यह चिकित्सा संतोषजनक परिणाम नहीं दे पाती। बीते कुछ वर्षों में पश्चिमी देशों में कई लोग इसलिये CAM की ओर बढ़े हैं, क्योंकि जैवचिकित्सा में साइड इफेक्ट की घटनाएं सामने आयी थीं।
- **सांस्कृतिक प्रतिबद्धताएंः** कुछ ग्रामीण लोकसमाजों में अपनी पीढ़ीगत उपचार पद्धतियों को आधुनिक चिकित्सा पर प्राथमिकता दी जाती है और उनका यह व्यवहार सांस्कृतिक परंपराओं से जुड़ा होता है। किसी खास बीमारी को लेकर इन लोगों के अपने अलग सिद्धांत होते हैं और वे परंपरागत चिकित्सा से दूरी बनाये रखते हैं। बीमारियों के इलाज के लिये वे रूढ़िवादी उपचारकों के पास जाते हैं जो वंशानुगत यह अभ्यास करते हैं।
- **विशिष्ट व्यवस्था पर विश्वासः** शरीर, स्वास्थ्य और बीमारियों को लेकर स्वास्थ्य सेवाप्रदाता और साधक की समान सामान्य सोच चिकित्सा बहुलवाद के अस्तित्व का अहम कारक है। कुछ मामलों में लोग वैकल्पिक चिकित्सा या जैवचिकित्सा की ओर भी बढ़ सकते हैं।
- **स्थानीय कारकः** विशेषज्ञ स्वास्थ्य सेवाओं की कमी भी चिकित्सा बहुलवाद की वजह है। ग्रामीण क्षेत्रों में पारंपरिक उपचारक आसानी से मिल जाते हैं और लोगों को उनसे इलाज करवाना अधिक सुविधाजनक व किफायती लगता है।

9.5 चिकित्सा समन्वय एवं एकीकरण (Medical Syncretism and Integration)

चिकित्सा समन्वय का अर्थ विभिन्न विचारों के एकीकरण एवं मिश्रण से है। यह चिकित्सा बहुलवाद से अलग है, क्योंकि यहां समाज में समान उपचार वाली विभिन्न चिकित्सा व्यवस्थाओं के सहअस्तित्व को परिभाषित किया जाता है। इस तरह के समन्वय का विश्लेषण स्वास्थ्य साधक के व्यवहार और चिकित्सकीय परंपराओं के संबंध के आधार पर किया जाता है। बेहतर स्वास्थ्य के लिये लोग अपने आसपास मौजूद चिकित्सा व्यवस्था से तीन प्रकार से जुड़ सकते हैं। पहला– किसी विशेष रोग के होने पर, दूसरा– व्यवस्थित रूप से एक से दूसरी चिकित्सा व्यवस्था की ओर जाना और तीसरा– एक साथ एक ही समय पर

अलग–अलग चिकित्सा व्यवस्थाओं से जुड़ना। ऐसे मामलों में चिकित्सा बहुलवाद का स्थान चिकित्सा समन्व्य ले लेता है।

चिकित्सा परंपराओं, सहायता और पूरकता के संबंध के आधार पर चिकित्सा समन्वय के दो कारक सामने आते हैं। स्वास्थ्य विशेषज्ञ दो अलग चिकित्सा प्रणालियों के खास तत्वों को इस तरह एकसाथ लाते हैं कि दोनों का अंतर बिल्कुल नजर नहीं आता। इस तरह का चिकित्सा समन्वय एशियाई देशों में नजर आता है, जहां परीक्षण तरीकों का एकीकरण, विभिन्न चिकित्सा व्यवस्थाओं के उपचार के तरीके और दवाएं इलाज के लिये एकसाथ लायी जाती हैं। कुछ मानवविज्ञानियों ने तर्क दिया है कि एशियाई चिकित्साभ्यास चिकित्सा एकीकरण की धारणा से भी अधिक एकीकृत हैं।

यहां एकीकरण शब्द का अर्थ दो या अधिक चिकित्सा व्यवस्थाओं को एक करने से है। इस एकीकरण का तात्पर्य उन व्यवस्थाओं के सिद्धांतों, कार्यों और उपचारात्मक ज्ञान को इस तरह साथ लाना है कि इस प्रक्रिया से रोगी को लाभ मिले। दो या अधिक व्यवस्थाओं के जरिये उपचार आयुर्वेदिक एवं एलोपैथिक दोनों तरह के चिकित्सकों द्वारा अपनाया गया है और यह दोनों ही व्यवस्थाओं को मजबूत करने में मदद करता है। समाजशास्त्रियों और दार्शनिकों ने तर्क दिया है कि यह संबद्धता बेमेल है, क्योंकि प्रत्येक चिकित्सा व्यवस्था का अपना अलग और विशिष्ट ज्ञान होता है जो मानव शरीर, स्वास्थ्य एवं रोगों को बिल्कुल अलग–अलग नजरिये से देखते हैं (Naraindas 2006; Sujata 2011).

9.6 चिकित्सा बहुलवाद के लाभ (Benefits of Medical Pluralism)

यहां बहुल तर्क उपलब्ध हैं जो व्यवहार पर सकारात्मक या नकारात्मक असर डाल सकते हैं। बहुलवादी तर्कों के जरिये सकारात्मक लाभ को संसाधनसंपन्नता और कुशलता के संयोजन के तौर पर देखा जा सकता है। तुलनात्मक बहुलवादी तर्क स्वास्थ्य, शिक्षा, जनकल्याण योजनाओं आदि में क्रियाओं और सकारात्मक परिणामों के लिये बेहतर संसाधनों को विकसित करते हैं। दूसरी ओर, नकारात्मक तर्क तनाव बढ़ाने के साथ हठधर्मिता को बढ़ावा देने की वजह बनते हैं (Shim J-M, 2017). ब्हुलवादी चिकित्सा व्यवस्थाओं के अध्ययन में भी यही बातें पायी गयी हैं, जहां सरकार और विशेषज्ञों द्वारा पारंपरिक और वैकल्पिक चिकित्सा के संयोजन के बेहतर परिणाम मिले हैं। दूसरी ओर, दोनों व्यवस्थाओं के बीच पनपने वाले अंतर्विरोध और तनाव का हल नहीं निकाले जाने से कुछ नकारात्मक परिणाम भी सामने आये हैं। चिकित्सा व्यवस्थाएं सामान्यतः चिकित्सा परंपराओं और अध्ययनों में समन्वय और स्पर्धात्मक सहअस्तित्व पर जोर देती हैं, इसके चलते जैवचिकित्सा और अन्य वैकल्पिक चिकित्साओं के बीच जटिल संबंध विकसित होता है। इसमें या तो वैकल्पिक चिकित्सा व्यवस्था को पूरी तरह नकार दिया जाता है या फिर विभिन्न स्तरों पर उनका समन्वय बनाया जाता है। जैवचिकित्सकों और वैकल्पिक चिकित्सा विशेषज्ञों के बीच कई बार विरोध और अपर्याप्त संवाद के मामले भी सामने आते रहते हैं।

9.7 भारत में चिकित्सा बहुलवाद का विकास (The Development of Medical Pluralism in India)

भारत में वर्तमान दौर में चिकित्सा की कई व्यवस्थाएं अस्तित्व में हैं, लेकिन सर्वाधिक प्रचलित वैकल्पिक चिकित्सा पद्धतियों में आयुर्वेद, यूनानी, सिद्ध, योग, होम्योपैथी और नेचरोपैथी शामिल हैं। आयुर्वेद भारत में 1500 ईसापूर्व से प्रचलित है, जबकि यूनानी चिकित्सा 12वीं सदी में मुगलों के आगमन के साथ अस्तित्व में

आयी। होम्योपैथी और नेचरोपैथी इसके करीब दो सौ साल बाद भारत में पहुंचीं। ईसापूर्व दसवीं सदी तक भारत में आयुर्वेद ही चिकित्सा का एकमात्र औपचारिक माध्यम था। बाद में यूनानी पद्धति अलाउद्दीन खिलजी के अस्तित्व में आयी, जिस दौरान आयुर्वेदिक ग्रंथों का अरबी में अनुवाद किया गया। 16वीं सदी के प्रारंभ में पुर्तगालियों ने वर्ष 1510 में रॉयल पुर्तगीज हॉस्पिटल के नाम से देश का पहला अस्पताल स्थापित किया, लेकिन यहां सिर्फ यूरोपीय ईसाइयों को ही इलाज की सुविधा दी जाती थी। इसके बाद 1665 में ईस्ट इंडिया कंपनी ने फोर्ट सेंट जॉर्ज, मद्रास में ब्रिटिश सैनिकों के लिये अपना पहला अस्पताल शुरू किया। बढ़ती आबादी और सैनिकों की संख्या को देखते हुये 1764 में इंडियन मेडिकल सर्विसेज प्रारंभ हुयी। 19वीं सदी के प्रारंभ में ब्रिटिश सरकार ने भारत में कई अस्पताल बनाये। उस काल में अधिसंख्य भारतीय आबादी आयुर्वेद और यूनानी चिकित्सा की पारंपरिक व्यवस्था पर ही विश्वास करती थी। वैद्य और हकीम लगभग 80 फीसदी भारतीय आबादी की स्वास्थ्य जरूरतों को पूरा करते थे।

इसकी एक वजह यह भी थी कि तब आधुनिक चिकित्सा के डॉक्टर बेहद कम थे। ब्रिटिश शासन ने वैद्यों और हकीमों को आधुनिक चिकित्सा की शिक्षा देने का प्रयास किया, लेकिन इसमें अधिक कामयाबी नहीं मिल सकी। समय के साथ भारतीय चिकित्सा व्यवस्थाएं किनारे होती चली गयीं और इनका इस्तेमाल अकसर तभी होने लगा, जब एलोपैथिक डिस्पेंसरियों में चिकित्सा सुविधा नही मिल पा रही हो। 20वीं सदी के प्रारंभ में ब्रिटिश शासन ने भारतीय चिकित्सा व्यवस्थाओं के खिलाफ अभियान चलाया, जिसके तहत इनके चिकित्सकों के पंजीकरण को बंद कर दिया गया। इसके विरोध में विख्यात वैद्यों और हकीमों ने आयुर्वेद और यूनानी पद्धतियों को बचाये रखने के लिये राष्ट्रव्यापी आंदोलन शुरू किया। हालांकि, पश्चिमी चिकित्सा व्यवस्था को नायक के तौर पर स्थापित करने और औपनिवेशिक शासन भारतीय चिकित्सा व्यवस्था को हाशिये पर डालने में सफल रहा। पश्चिमी वैज्ञानिक चिकित्सा को भारत में सिद्धांत और चिकित्सा कार्य के तौर पर स्थापित कर दिया, जिसके चलते यह राज्य द्वारा निर्धारित जैवचिकित्सा पद्धति बन गयी। ब्रिटिश शासनकाल से प्रारंभ हुयी यह चिकित्सा व्यवस्था स्वतंत्रता के बाद भी चलती रही।

स्वतंत्रता से पूर्व कांग्रेस द्वारा शौकी कमेटी का गठन किया गया, जिसने भारत में तत्कालीन स्वास्थ्य व्यवस्थाओं की स्थिति और पारंपरिक चिकित्सा व्यवस्थाओं आयुर्वेदिक–यूनानी के प्रति विश्वास, उनकी संरक्षात्मक उपचार पद्धतियों के चलते उनके विकास और प्रोत्साहन के पक्ष में रिपोर्ट दी। इस कमेटी ने यह भी संस्तुति की कि आयुर्वेदिक वैद्यों और यूनानी हकीमों को प्रशिक्षित किया जाये, ताकि वे चिकित्सा व्यवस्था की मुख्यधारा में शामिल हो सकें। लेकिन, भारत की पहली स्वास्थ्य सर्वेक्षण और विकास कमेटी यानी बोहरे कमेटी ने भारतीय चिकित्सा व्यवस्थाओं को लेकर कोई सकारात्मक पक्ष नहीं रखा और इन्हें अवैज्ञानिक के तौर पर प्रदर्शित किया। 1946 में चोपड़ा कमेटी ने एक बार फिर यह सुझाव दिया कि भारत में बड़ी आबादी को बेहतर चिकित्सा सुविधा उपलब्ध कराने के लिये पारंपरिक चिकित्सा व्यवस्थाओं और आधुनिक चिकित्सा व्यवस्थाओं के एकीकरण की जरूरत जतायी।

1983 में राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति लागू होने तक कई अन्य समितियां पंचवर्षीय योजनाओं के तहत बनायी गयीं, जिन्होंने देश में समग्र स्वास्थ्य विकास के लिये आधुनिक चिकित्सा को ही प्राथमिकता दी। 1978 की अल्मा आता घोषणा पारंपरिक चिकित्सा व्यवस्थाओं के लिहाज से महत्वपूर्ण है। यह पहली बार हुआ, जब 'सबके लिये स्वास्थ्य' के नारे के साथ वर्ष 2000 में सर्वव्यापी चिकित्सा सुविधा का लक्ष्य तय किया गया। इस लक्ष्य को हासिल करने के लिये पारंपरिक चिकित्सा व्यवस्थाओं और इनसे जुड़े उपचारकों को भी मान्यता

प्रदान की गयी। नीति में पारंपरिक उपचारकों को विशेष प्रशिक्षण का सुझाव भी दिया गया, ताकि वे देश में प्राथमिक चिकित्सा सेवा में मददगार साबित हो सकें। इस तरह 1983 की राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति में भारतीय चिकित्सा व्यवस्थाओं को समृद्ध एवं विरासती चिकित्सा–स्वास्थ्य विज्ञान के तौर पर स्वीकृति दी गयी। नीति में विभिन्न स्तरों पर पारंपरिक भारतीय चिकित्सा व्यवस्थाओं के एकीकरण की राय दी। वर्ष 1995 में केन्द्रीय स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय के अधीन भारतीय चिकित्सा पद्धतियों और होम्योपैथी के लिये अलग विभाग की स्थापना की गयी, जिसे वर्ष 2003 में आयुष (AYUSH) नाम दिया गया, जिसमें आयुर्वेद, योग, यूनानी, सिद्ध और होम्योपैथी पद्धतियों को शामिल किया गया। वर्ष 2014 में अलग आयुष मंत्रालय का गठन किया गया।

स्पष्ट है कि भारत में चिकित्सा बहुलवाद ब्रिटिश उपनिवेशकाल से ही भारत में अस्तित्व में रहा, लेकिन जैवचिकित्सा और वैकल्पिक चिकित्सा व्यवस्था के बीच समय–समय पर शक्तियों के असमान वितरण, सेवा प्रदाताओं में अंतर के चलते विरोध सामने आते रहे। पारंपरिक चिकित्सा व्यवस्थाएं न तो कभी पूरी तरह बंद ही हो सकीं, न ही कभी (ब्रिटिश राज में भी नहीं) उनका नियमन–नियंत्रण किया जा सका। स्वतंत्रता के बाद भी जैवचिकित्सा विशेषज्ञों की कमी, भारतीय चिकित्सा व्यवस्थाओं के उपचारकों की राजनीतिक एवं सामाजिक शक्तियां, रोगों के उपचार में उनका प्रभावी कार्य और राष्ट्रवादी व सांस्कृतिक विचारों ने भारतीय चिकित्सा व्यवस्था को स्वास्थ्य क्षेत्र में विशेष स्थान दिया। बीते दो दशकों में जैवचिकित्सा के साइड इफेक्ट को देखते हुये वैकल्पिक चिकित्सा की बढ़ती मांग और आयुर्वेद व जड़ी–बूटी चिकित्सा की बाजार में हिस्सेदारी ने वैकल्पिक चिकित्सा व्यवस्था को भारतीय समाज में बहुलवादी चिकित्सा में संगठित स्वरूप दिया है। यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि आयुर्वेद, सिद्ध और यूनानी चिकित्सा पद्धतियां देश के सभी प्रदेशों में समान रूप से लोकप्रिय नहीं हैं। पश्चिम बंगाल आयुर्वेद का सबसे प्रमुख केन्द्र था, जहां वर्ष 1916 में सबसे पहला आयुर्वेद संस्थान स्थापित हुआ और अब इसे होम्योपैथी के केन्द्र के तौर पर जाना जाता है। इसी तरह महाराष्ट्र, केरल और कर्नाटक में भी पारंपरिक भारतीय चिकित्सा उपचार की बेहतर व्यवस्था उपलब्ध हैं, जबकि इन राज्यों में जैवचिकित्सा की भी सार्वजनिक व्यवस्था मौजूद हैं। यही नहीं, वैकल्पिक चिकित्सा के सांस्थानिक प्रशिक्षण प्राप्त विशेषज्ञ उपचारकों की संख्या भी प्रतिवर्ष बढ़ रही है।

9.8 भारत में प्रचलित विभिन्न चिकित्सा व्यवस्थाएं (Different Medical Systems in India)

आयुर्वेद

आयुर्वेद शब्द मूलतः दो शब्दों आयु (जीवन) और वेद (ज्ञान) से मिलकर बनता है, जिसका अर्थ है जीवन का विज्ञान। भारत में प्रचलित वैकल्पिक चिकित्सा व्यवस्थाओं में आयुर्वेद सबसे प्रमुख और पहली उपचार व्यवस्था है। आयुर्वेद के संबंध में पहला ग्रंथ 1500 ईसापूर्व सुश्रुत संहिता है। माना जाता है कि आयुर्वेद की न तो रचना की गयी, न ही इसे लिखा गया, बल्कि सृष्टि के रचनाकार ब्रह्मा की स्मृतियों में यह समाहित था। यह ज्ञान देवताओं और ऋषियों के माध्यम से बेहद सूक्ष्म रूप में धरती तक पहुंचा। आयुर्वेद की दो शाखाएं मानी जाती हैं, आत्रेय– जो औषधीय यानी दवाओं के उपचार से संबंधित है और धन्वन्तरि– जो शल्य चिकित्सा की प्रक्रियाओं से संबंधित हैं। आयुर्वेद में रोगों की रोकथाम के लिये स्वस्थ जीवनशैली को अपनाने पर जोर दिया जाता है, इसके बाद उपचार की बात आती है। आयुर्वेद की आठ विशिष्टताएं थीं, जिनमें से रसायन (कायाकल्प) और वाजीकरण (कामोद्दीपक) विशेष रूप से स्वास्थ्य आधारित हैं।

आयुर्वेदिक दृष्टिकोण में शरीर को अलग नहीं देखा जाता, बल्कि शरीर को ब्रह्मांड का प्रतिनिधि माना जाता है। शरीर में वायु, सूर्य (अग्नि) और चंद्र (जल) क्रमशः वात, पित्त और कफ के परिचायक माने जाते हैं। आयुर्वेद की मूल धारणाओं में त्रिदोष, सप्तधातु, त्रिमल और पंचभूत हैं। आयुर्वेद समग्र रूप से शारीरिक, मानसिक, भावात्मक और आध्यात्मिक उपचार पर जोर देता है। इसे सुश्रुत संहिता में बतायी गयी स्वास्थ्य की परिभाषा से समझा जा सकता है। संहिता के अनुसार दोषों की संतुलनपूर्ण स्थिति, अग्नि (पाचक अग्नि), धातु (शरीर के उतक), मल (शरीर का अपशिष्ट) और मानसिक गतिविधियों की सामान्य स्थिति ही शारीरिक स्वास्थ्य के ठीक होने के द्योतक हैं। आत्मा, इन्द्रियों और मन की प्रसन्न स्थिति मानसिक, भावात्मक और आध्यात्मिक रूप से स्वस्थ होने के संकेत हैं। आयुर्वेद का उपचार दृष्टिकोण विभिन्न कारकों के अलग–अलग मूल्यांकन का है। पंचकर्म ऐसी ही तकनीकों में से एक है, जिसे हाल में ही पुनर्विकसित किया गया है और जो वैश्विक तौर पर लोकप्रिय हो चुकी है। दुनियाभर में कई विकट रोगों के उपचार के लिये इसका प्रयोग किया जा रहा है।

पहला आयुर्वेदिक कॉलेज वर्ष 1916 में कलकत्ता में स्थापित हुआ था। वर्तमान में भारत में चार सौ से अधिक आयुर्वेदिक कॉलेज हैं जहां आयुर्वेद में स्नातक पाठ्यक्रम संचालित किये जाते हैं। सेंट्रल काउंसिल ऑफ मेडिसिन भारत सरकार के अधीन स्वायत्त संस्था है जो आयुर्वेद के स्नातक और स्नातकोत्तर पाठ्यक्रमों की निगरानी करती है। 1971 में आयुर्वेद शोध परिषद का गठन किया गया, जिसका मकसद आयुर्वेद में वैज्ञानिकता के आधार पर समन्वय, विकास और शोध को बढ़ावा देना था। वर्ष 2016 में दिल्ली में ऑल इंडिया इंस्टीट्यूट ऑफ आयुर्वेद की भी स्थापना की गयी है।

योग एवं नेचरोपैथी

योग शब्द की उत्पत्ति संस्कृत शब्द युज से हुयी है, जिसका अर्थ है संघ या एकता से है। यह शरीर एवं मन की एकता और व्यक्ति व ब्रह्मांड की संयुक्त जागृति का प्रतीक है। यह आध्यात्मिक शाखा है, जिसका उपयोग प्राचीन काल से किया जा रहा है। हठयोग, राजयोग इसके विभिन्न प्रकारों में से दो प्रमुख और प्रचलित विधाएं हैं। राजयोग से जुड़ने के लिये व्यक्ति का शारीरिक रूप से पूर्ण स्वस्थ होना आवश्यक है, जो हठयोग से संभव है। योग के अंतर्गत विभिन्न शारीरिक क्रियाएं, श्वास अभ्यास, ध्यान और विश्राम का अभ्यास किया जाता है। योग की पहुंच समग्र है और यह जीवन के सभी आयामों में संतुलन की स्थापना के साथ रोगों से बचाव व स्वास्थ्य में वृद्धि का माध्यम है। पौराणिक आख्यानों के अनुसार भगवान शिव योग के प्रथम शिक्षक थे। योग के ऐतिहासिक प्रमाण 2700 ईसापूर्व सिंधु घाटी सभ्यता से मिलता है। ऋग्वेद में भी योग का उल्लेख है। लेकिन योग का स्वर्णिम काल पांच सौ से आठ सौ ईसापूर्व माना जाता है। जैन और बुद्ध दर्शन में भी योग विज्ञान का जुड़ाव मिलता है। पतंजलि का योगसूत्र योग का मूल ग्रंथ है। आठ सौ से 1700 ईसवी का समय योग के मध्यकाल और 1700 से 1900 तक का काल योग के आधुनिक काल के तौर पर देखा जाता है। 20वीं सदी और इसके बाद योग पूरी दुनिया में अभ्यास किया जाने लगा। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारण, ध्यान और समाधि अष्टांग योग के आठ भाग हैं, जिनका योगाभ्यास करने वाले व्यक्ति के लिये पालन करना आवश्यक होता है। योग को शारीरिक गतिविधियों, शरीर के लचीलेपन और शक्ति बढ़ाने में उपयोगी पाया गया है। इसके अलावा अवसाद, अस्थमा, आर्थराइटिस आदि रोगों के उपचार में भी इसका उपयोग होता है। योग के संरक्षात्मक और स्वास्थ्य संबंधी बेहतर परिणामों के चलते इसे नेचरोपैथी के साथ भारतीय चिकित्सा व्यवस्था में शामिल करने के अलावा

वर्ष 2003 में आयुष के तहत लाया गया। 21 जून को दुनियाभर में अंतर्राष्ट्रीय योग दिवस भी मनाया जाता है।

नेचरोपैथी शब्द का इस्तेमाल सर्वप्रथम जॉन शील ने 1895 में किया था। यह शब्द दो लैटिन शब्दों नेचुरा और पैथोस से बना है, जिनके अर्थ क्रमशः जन्म और पीड़ा से हैं। इस तरह नेचरोपैथी दवाओं के इस्तेमाल के बिना प्राकृतिक उपचार की पद्धति है। चिकित्सा की अन्य व्यवस्थाओं की तरह स्वास्थ्य और रोगों को लेकर इसके भी अपने सिद्धांत हैं। नेचरोपैथी का सिद्धांत यह है कि अधिकतर बीमारियों का कारण रुग्णता शरीर के भीतर ही मौजूद तत्व है और शरीर के भीतर स्वयं का उपचार करने की भी क्षमता है। नेचरोपैथी का दृष्टिकोण भी समग्रता लिये हुये है और इसमें भोजन को ही औषधि माना जाता है। मृदा चिकित्सा, उपवास, चुंबक चिकित्सा, जल चिकित्सा, एक्यूपंक्चर और एक्यूप्रेशर नेचरोपैथी की कुछ विधाएं हैं। रुडोल्फ जस्ट लिखित पुस्तक 'Return to Nature' के आधार पर गांधी भी नेचरोपैथी के बड़े समर्थक थे। यद्यपि योग और नेचरोपैथी आयुष के ही भाग हैं, लेकिन इनके शैक्षिक संस्थानों का विकास आयुर्वेद, यूनानी, सिद्ध और होम्योपैथी के मुकाबले काफी कम है। इन दोनों ही क्षेत्रों में उच्चशिक्षित एवं प्रशिक्षित विशेषज्ञों का अभाव है। हालांकि, अब बढ़ती हुयी मांग को देखते हुये विभिन्न विश्वविद्यालयों ने इन दोनों क्षेत्रों में शैक्षिक कार्यक्रमों का संचालन प्रारंभ किया है।

सोवा–रिग्पा

सोवा–रिग्पा का अर्थ उपचार का विज्ञान है और इसे भी आयुष के तहत वैकल्पिक चिकित्सा की पहचान दी गयी है। यह तिब्बती चिकित्सा सबसे पुरानी पारंपरिक चिकित्सा व्यवस्थाओं में से एक है। तिब्बत, नेपाल, भूटान, रूस आदि ऐसे देशों में इस चिकित्सा व्यवस्था का प्रसार है, जहां बौद्ध धर्म का प्रभाव है। भारत में भी सिक्किम, अरुणाचल प्रदेश, हिमाचल प्रदेश (धर्मशाला) और लद्दाख में यह चिकित्सा व्यवस्था प्रचलित है। यह व्यवस्था आयुर्वेद के काफी समान है और कई अवधारणाएं जैसे जुंग–वा–न्गा (आयुर्वेद में पंचभूतम) और न्गेपा–सम (त्रिदोष) आयुर्वेद की ही तरह हैं। सोवा–रिग्पा के चिकित्सकों को मेन्पा कहा जाता है जो गुरु–शिष्य परंपरा या पारिवारिक परंपरा के तहत यह विधा सीखते हैं। भारत में चार संस्थानों में सोवा–रिग्पा का पाठ्यक्रम (मेन्पा कचूपा) संचालित किया जा रहा है, जहां छात्रों को आधुनिक चिकित्सा विधाओं की भी जानकारी दी जाती है।

यूनानी

चिकित्सा की यह व्यवस्था ग्रीस में जन्मी और भारतीय उपमहाद्वीप में सर्वाधिक प्रयुक्त होने वाली वैकल्पिक चिकित्सा व्यवस्थाओं में यह एक है। इसे यूनानी चिकित्साशास्त्र, अरबी चिकित्सा या इस्लामी चिकित्सा के नाम से भी जाना जाता है। चूंकि यह चिकित्सा व्यवस्था दो ग्रीक चिकित्सकों हिप्पोक्रेट्स और गैलन की शिक्षाओं पर आधारित है, इसलिये इसे यूनानी चिकित्सा नाम दिया गया। हिप्पोक्रेट्स (460–370 ईसापूर्व) वह पहले चिकित्सक थे, जिन्होंने इस चिकित्सा व्यवस्था को विज्ञान का दर्जा दिया। उनके बाद गैलन ने इस विज्ञान की बुनियाद रखी। The Canon of Medicine को यूनानी चिकित्सा व्यवस्था का इनसाइक्लोपीडिया और सन्दर्भग्रंथ माना जाता है, जिसे पारसी दार्शनिक अवेसेन्ना ने लिखा था। 632 ईसवी तक अधिकतर ग्रीक ज्ञान का अरबी में अनुवाद किया जा चुका था। ग्रीस से मध्य एशिया और फिर दक्षिण एशिया तक पहुंचते–पहुंचते इस चिकित्सा व्यवस्था में कई नये बदलाव आते गये। भारत में 11वीं सदी में

यह चिकित्सा व्यवस्था पहुंची और 13वीं सदी में अलाउद्दीन खिलजी के प्रयासों से चरक और सुश्रुत के आयुर्वेदिक ग्रंथों को शामिल कर इसे और अधिक परिष्कृत किया गया।

यूनानी चिकित्सा की बुनियादी अवधारणा आयुर्वेद से कुछ भिन्न है। यूनानी चिकित्सा में यह विश्वास किया जाता है कि स्वास्थ्य छह अनिवार्य तत्वों पर निर्भर है। इस व्यवस्था में रोग की जांच नाड़ी–धड़कन, मल एवं मूत्र से की जाती है। ऐसी कई दवाएं हैं, जिनका इस्तेमाल आयुर्वेद और यूनानी दोनों तरह की चिकित्सा में किया जाता है। यूनानी चिकित्सक हकीम कहलाते हैं। प्रारंभ में 18वीं सदी तक यूनानी चिकित्सा का इस्तेमाल आयुर्वेद के साथ ही किया जाता रहा, जब तक कि आधुनिक चिकित्सा व्यवस्था का परिचय भारत से हुआ। हकीम अजमल खान और कुछ अन्य प्रख्यात परिवारों के प्रयासों से यह चिकित्सा व्यवस्था भारत में पुनर्स्थापित हुयी। स्वतंत्रता के बाद केन्द्रीय सरकार ने भी इस व्यवस्था को वैकल्पिक उपचार के तौर पर विकसित करने में मदद की। आयुर्वेद और सिद्ध की तरह यूनानी चिकित्सा शिक्षा की निगरानी भी सेंट्रल काउंसिल ऑफ मेडिसिन द्वारा की जाती है। यूनानी चिकित्सा और दवाओं के मानकीकरण की देखरेख सेंट्रल काउंसिल फॉर रिसर्च इन यूनानी मेडिसिन करती है। विश्व स्वास्थ्य संगठन ने वर्ष 1976 में इस चिकित्सा को वैकल्पिक चिकित्सा के तौर पर मान्यता दी। यूनानी चिकित्सा भी आयुष का अभिन्न अंग है।

होम्योपैथी

होम्योपैथी शब्द का इस्तेमाल सबसे पहले 1807 में सैमुअल हेनमैन ने किया था, जिन्हें होम्योपैथी का जनक माना जाता है। यह दो लैटिन शब्दों होमियोस और पैथोस से बना है, यहां होमियोस का अर्थ समान या की तरह है, जबकि पैथोस का अर्थ पीड़ा से है। इस तरह होम्योपैथी का अर्थ यह है कि यह "*similia similibus curentur*" यानी '...की तरह इलाज' करने की पद्धति है। इसके अनुसार कोई तत्व किसी व्यक्ति में स्वस्थ होने के लक्षण की वजह बनता है, वही रोगी व्यक्ति में रोग के लक्षणों को समाप्त करता है। होम्योपैथी का एक अन्य सिद्धांत दवा की बेहद कम मात्रा देने का है। इसका तर्क यह है कि रोगी को दवा के कारण नगण्य या शून्य साइड इफेक्ट होना चाहिये। यही वजह है कि होम्योपैथी की अधिकतर दवाएं जल में मिलाकर बेहद मंदित करके दी जाती हैं। कुछ विचारक मानते हैं कि होम्योपैथी का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है और यह असल में छद्म विज्ञान है। वे मानते हैं कि यह उपचार प्रभावी होने के बजाय कूटभेषज है। भारत में 19वीं सदी में होम्योपैथी चिकित्सा पहुंची जब 1839 में पंजाब के महाराज रणजीत सिंह के इलाज के लिये फ्रांस से डॉक्टर होनीगबर्गर को बुलाया गया। बाद में वह कलकत्ता चले गये और वहीं होम्योपैथी चिकित्सा कार्य करने लगे। वहां वह काफी लोकप्रिय हो गये और बंगाल के लोगों का होम्योपैथी पर विश्वास जमने लगा। 1891 में कलकत्ता में पहला होम्योपैथी कॉलेज स्थापित किया गया। 1973 में भारत सरकार ने इसे राष्ट्रीय चिकित्सा व्यवस्थाओं में से एक माना और होम्योपैथी के लिये अलग से सेंट्रल काउंसिल फॉर होम्योपैथी की स्थापना की गयी जो होम्योपैथी चिकित्सा कार्य और शिक्षा का नियंत्रण और नियमन करती है।

सिद्ध

यह चिकित्सा व्यवस्था भारत के दक्षिणी राज्यों, विशेषकर तमिलभाषी क्षेत्रों में प्रचलित है। इसका प्रारंभ तमिलनाडु के तमिलकम से हुआ। सिद्ध का अर्थ उपलब्धि है। इस व्यवस्था के विशेषज्ञ सिद्ध कहलाते हैं।

यह मान्यता है कि मानवजाति के विकास के साथ ही इस व्यवस्था का भी जन्म हुआ। माना जाता है कि भगवान शिव और पार्वती के पुत्र मुरुगन ने यह उपचार व्यवस्था अगतियर या अगत्य मुनि को सौंपी थी। ऐसे में अगतियर को पहला सिद्ध माना जाता है, जिन्होंने यह विद्या 18 अन्य सिद्धों को विश्वभर में प्रसारित करने के लिये सिखायी। माना जाता है कि सिद्धों के पास आठ सिद्धियां (अलौकिक शक्तियां होती हैं)। सिद्ध के मूल ग्रंथ तमिल भाषा में हैं, जो जीवन के विभिन्न पहलुओं पर केन्द्रित हैं। सिद्ध मानते हैं कि स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ आत्मा वास करती है यानी आध्यात्मिक स्वास्थ्य के लिये बेहतर शारीरिक स्वास्थ्य आवश्यक है। यह माना जाता है कि लोगों का उपचार करने से पूर्व सिद्ध को शारीरिक और आध्यात्मिक रूप से स्वयं को सर्वश्रेष्ठ साबित करना होता है। इसके लिये सिद्धों को कठिन यौगिक क्रियाओं, ध्यान, उपवास आदि से गुजरना पड़ता है ताकि वे अध्यात्म के सर्वोच्च शिखर तक पहुंच सकें, जहां से उन्हें ज्ञान मिल पाता है। सिद्ध की मूल धारणाएं भी आयुर्वेद के समान हैं। इस व्यवस्था में भी आयुर्वेद की ही तरह तीन दोष, पांच तत्वों, तीन मल और सात उतकों को महत्वपूर्ण माना जाता है। सिद्ध उपचार मुख्यतः भोजन और जीवनशैली पर आधारित है। यह चिकित्सा शरीर को पुनर्जीवित करने के साथ रोग के लिये जिम्मेदार कारणों को दूर करती है। मर्म चिकित्सा सिद्ध व्यवस्था की एक महत्वपूर्ण और विशिष्ट चिकित्सा विधा है। मर्म का अर्थ शरीर के ऊर्जा बिन्दुओं से है, जिन्हें ठीक कर शरीर, मस्तिष्क एवं आत्मा का उपचार किया जाता है। सिद्ध चिकित्सा विधा में भी स्नातक और परास्नातक पाठ्यक्रम संचालित किये जाते हैं। इनकी निगरानी सेंट्रल काउंसिल ऑफ इंडियन मेडिसिन करती है। चेन्नई स्थित रिसर्च काउंसिल इन सिद्ध इस चिकित्सा व्यवस्था के संरक्षण, शोधकार्यों और चिकित्सकीय कार्यों की निगरानी करती है।

9.9 आयुष का मुख्यधाराकरण (Mainstreaming of Ayush)

राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन **(National Rural Health Mission: NRHM)** के प्रारंभ के साथ केन्द्र सरकार ने आयुष को मुख्यधारा में लाने का काम किया, जिसके तहत ऐसे प्राथमिक और जिलास्तरीय स्वास्थ्य केन्द्रों में आयुष डॉक्टरों की तैनाती की गयी, जहां एमबीबीएस चिकित्सक उपलब्ध नहीं थे। इन आयुष चिकित्सकों को निश्चित दायरे में एलोपैथिक उपचार करने की भी छूट दी गयी। इस प्रयास से सार्वजनिक स्वास्थ्य सेक्टर को मजबूत करने में मदद मिली, लेकिन इससे कुछ नैतिक मुद्दे भी खड़े हुये, जिनमें चिकित्सा व्यवस्थाओं का एकीकरण, आयुष चिकित्सकों द्वारा एकीकृत चिकित्साकार्य, आयुष की वास्तविक चिकित्साकार्य को पुनर्जीवित करना और स्वास्थ्य सेवाओं के पदानुक्रम संबंधी विषय सामने आये। तमिलनाडु में आयुर्वेद और सिद्ध चिकित्सा को इस तरह मुख्यधारा में लाया गया कि ये दोनों ही चिकित्सा पद्धतियां अपनी अलग पहचान भी कायम रख सकें। तमिलनाडु में इन दोनों पद्धतियों से जुड़ी 50 से अधिक दवाएं विकसित करायी गयी हैं, जो दूरस्थ क्षेत्रों में काम कर रहे इन पद्धतियों के चिकित्सकों को उपलब्ध करायी गयी हैं।

12वीं पंचवर्षीय योजना के तहत सितंबर 2014 में प्रारंभ हुये राष्ट्रीय आयुष मिशन के तहत आयुष को मुख्यधारा में लाने के प्रयास शुरू हुये। इसका लक्ष्य आयुर्वेद, योग, यूनानी, सिद्ध, होम्योपैथी चिकित्सा व्यवस्था को प्रसारित करना और इन चिकित्सा व्यवस्थाओं में शिक्षण–प्रशिक्षण की व्यवस्था उपलब्ध कराना है। अभियान के तहत सरकार समाज की स्वास्थ्य संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये इन वैकल्पिक उपचार व्यवस्थाओं को पुनर्जीवित, संगठित कर रही है। मिशन के तहत इन चिकित्सा पद्धतियों से संबंधित चिकित्सकों को डिस्पेंसरियों, प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों और जिला अस्पतालों में तैनाती दी जा रही है। इसके अलावा इन चिकित्सा व्यवस्थाओं में इस्तेमाल होने वाले पौघों के संरक्षण, उत्पादन और प्रमाणीकरण के

जरिये गुणवत्ता पर भी ध्यान दिया जा रहा है। आयुष वेलनेस सेंटर, आयुष द्वारा खेलों में उपचार आदि के भी प्रस्ताव हैं।

9.10 निष्कर्ष (Conclusion)

भारत को चिकित्सा बहुलवाद का जीवंत उदाहरण माना जाता है और व्यापक संदर्भ में देखा जाये तो भारत में बड़ी आबादी व तुलनात्मक रूप से प्रशिक्षित जैवचिकित्सा विशेषज्ञों के अभाव को ध्यान में रखते हुये यह आवश्यक भी बन जाता है। समृद्ध वर्ग तो सामान्यतः जैवचिकित्सा के महंगे सांस्थानिक उपचार और आयुर्वेदिक इलाज को भी हासिल कर लेते हैं, लेकिन निर्धन वर्ग के लोगों के लिये असंस्थागत चिकित्सा पर निर्भर रहना पड़ता है जिनकी गुणवत्ता बेहद खराब होती है। ऐसे में भारत में चिकित्सा व्यवस्थाओं के जनतंत्रीकरण के लिये यह आवश्यक है कि अधिसंख्य आबादी तक इनकी पहुंच बढ़ायी जाये। सरकार ने इस बात को समझा है और सार्वजनिक स्वास्थ्य व्यवस्था को बेहतर बनाने के लिये ही आयुष अभियान प्रारंभ किया है, जिसके अच्छे परिणाम नजर भी आने लगे हैं। आने वाले वर्षों में ये प्रयास प्रत्ये व्यक्ति को उसकी इच्छा के अनुरूप चिकित्सा व्यवस्था से इलाज करवाने में मददगार होंगे।

9.11 अभ्यास प्रश्न (Exercise)

- डन ने कितने प्रकार की चिकित्सा व्यवस्थाएं बतायी हैं, इनके बारे में विस्तार से बतायें।
- पेशेवर या विशेषज्ञ, लोकसमाज या पारंपरिक बहुलवाद में क्या अंतर है?
- चिकित्सा बहुलवाद से क्या लाभ हैं, विस्तार से समझायें।
- चिकित्सा बहुलवाद के चयन के पीछे कौन से कारण मुख्य रूप से उत्तरदायी हैं।
- भारत में प्रचलित विभिन्न चिकित्सा व्यवस्थाओं के बारे में बतायें।
- चिकित्सा एकीकरण से आप क्या समझते हैं?

9.12 भावी अध्ययन (Further Readings)

1. Abraham, Leena 2005. Indian Systems of Medicine and Public Health Care in India', in Leena V. Gongolli, R. Duggal and A. Shukla, ed., Review of Health Care in India. Mumbai: Centre for Enquiry into Health and Allied themes (CEHAT).
2. Cant Sarah And Ursula Sharma 1999, 'A New Medical Pluralism? Alternative Medicine, Doctors, Patients and The State'. Routledge, New York.
3. Christine Wade 2008.Medical Pluralism Among American Women: Results Of A National Survey, Journal Of Womens Health (Larchmt). Jun; 17(5): 829–840.
4. Das J, Hammer J. 2007. Location, Location: Residence, Wealth, And The Quality Of Medical Care In Delhi, India. Health Affair 26 (3): 338-351.
5. Dinges Martin 2017. Medical Pluralism In Europe And India: Concept, Historical Background, Perspectives Indian Journal Of Research In Homoeopathy, Volume 11, Issue 2 : 118-122
6. Dunn 1976, 'Traditional Asian Medicine And Cosmopolitan Medicine As Adaptive Systems', In , "Asian Medical Systems A Comparative Study" Ed. Leslie Charles. University Of California Press, London.
7. Geisler And Pool, 2005 , 'Medical Anthropology' . Berkshire Mc-Graw Hill Education.

8. Government of India. Ministry Of Health And Family Welfare. Planning And Evaluation Department Of Indian Systems Of Medicine And Homeopathy. Indian Systems Of Medicine And Homeopathy In India; 1998
9. Hardiman D 2007. Healing, Medical Power And The Poor: Contests In Tribal India. Econ Polit Wkly. Apr 21; 42 (16): 1404-08
10. Langford J M 2002, 'Fluent Bodies: *Ayurvedic Remedies For Postcolonial Imbalance'.* Durham, Nc: Duke University Press.
11. Naraindas Harish 2006. Of spineless babies and folic acid: evidence and efficacy in biomedicine and Ayurvedic medicine. *Social Science & Medicine*, 62, 11: 2658-2669.
12. Nisula T 2006. In The Presence Of Biomedicine: Ayurveda, Medical Integration And Health Seeking In Mysore, South India. Anthropology & Medicine. Dec; 13 (3): 207-24.
13. Shim J-M (2017) .The Coordination Of Plural Logics Of Action And Its Consequences: Evidence From Plural Medical Systems. Plos One 12(12)
14. Sujatha V and Abraham Leena 2012, 'Medical Pluralism in Contemporary India'. Orient Blackswan; New Delhi.
15. V. Sujatha 2011. Innovation within and between Traditions: Dilemma of Traditional Medicine in Contemporary India. Science, Technology & Society 16: (2): 191–213
16. World Health Organization. Legal Status Of Traditional Medicine And Complementary/Alternative Medicine: A Worldwide Review. Geneva: Who; 2001.
17. World Health Organization. Who Traditional Medicine Strategy 2002-2005. Geneva: Who; 2002